

उत्तराखण्ड
लोकतंत्र की दशा-दिशा

संपादक
विजय प्रताप एवं भूपेन सिंह

सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज
29, राजपुर रोड, दिल्ली – 110054

विषय-सूची

क्षेत्रीय विकास, संसाधन और संस्कृति

विचार

क्षेत्रीय विकास की अवधारणा एवं उत्तराखण्ड
डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

प्राकृतिक संसाधनों की राजनीति और उत्तराखण्ड का भविष्य
शेखर पाठक

उत्तराखण्डी मानस और सांस्कृतिक लोकतंत्र की चुनौतियां
पंकज बिष्ट

विमर्श

उत्तराखण्ड में लोकतंत्र की दशा-दिशा

विचार

विकेन्द्रीकृत विकास की खोज
डॉ. के. एन. भट्ट

सहभागी लोकतंत्र की चुनौतियां
राजेन्द्र धस्माना

जन आंदोलनों का परिदृश्य
पी. सी. तिवारी

विमर्श

उत्तराखण्ड और मास मीडिया

विचार

लोकतांत्रिक नवनिर्माण में मीडिया की भूमिका
डॉ. गोविन्द सिंह

उत्तराखण्ड में पत्रकारिता कैसी हो?
सुरेश नौटियाल

विमर्श

अध्यक्षीय वक्तव्य
शेखर पाठक

क्षेत्रीय विकास की अवधारणा एवं उत्तराखण्ड

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

सबसे पहले हमें क्षेत्रीय विकास की अवधारणा को समझना चाहिए, क्योंकि हम उत्तराखण्ड के विकास की गतिविधियों को पूरे हिन्दुस्तान के विकास की गतिविधियों से अलग करके नहीं देख सकते। क्षेत्रीय विकास का विद्यार्थी होने के नाते मैं समझता हूँ कि उत्तराखण्ड राज्य की स्थापना के बाद, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो आर्थिक विकास की प्रक्रिया हो उसको न सिर्फ सैद्धांतिक रूप में ही स्वीकार करें बल्कि व्यावहारिक रूप में भी उसको मान्यता देने की कोशिश करें।

पिछले दो दशकों में पूरे शैक्षणिक और राजनैतिक दायरे में जहां कहीं भी निर्णय लेने वाले संस्थान हैं, वहां पर इस बात को लेकर बहस होती रही है कि एक जो हममें से अधिकतर की 'सोच' रही है, जिसमें हम स्थिर विकास, राष्ट्रीय स्तर के संसाधन और उत्पादकता के मुद्दों की बात करते रहे हैं। यह कहाँ तक सही रहेगा? इससे अलग होकर देखने की जरूरत है या नहीं? यानी निम्न स्तर से उच्च स्तर के बजाय ये जो उच्च स्तर से निम्न स्तर की प्रक्रिया थी, इसमें जितने भी क्षेत्र शामिल थे, समाज के विभिन्न अंग शामिल थे उनको हमने केवल इस तरह से जोड़ा जैसे कि कोई एक बड़ा केक हो और उस केक के दो टुकड़े इनको – चार टुकड़े उनको, इस तरह से हमने बंदरबांट की जो पद्धति अपनायी थी उसके खिलाफ लोगों के दिमाग में काफी बातें आयी। उन्होंने इस बात को समझना शुरू किया कि ये जो ऊपर से शक्ति की अवनति (डिवोल्यूशन ऑफ पावर), आर्थिक संसाधनों की अवनति (डिवोल्यूशन ऑफ इकोनॉमिक रिसोर्स) की बात अभी तक हम करते आए हैं, उसको बदलने की जरूरत है। वास्तव में होता यह है कि जो ऊपर की सोच है, उसी को हम नीचे तक लाने की कोशिश करते हैं, लोगों की बात वहीं की वहीं रह जाती है।

हमारे समाज में जो खाई बढ़ती चली जा रही है गरीब और अमीर के बीच, अमीर क्षेत्र और गरीब क्षेत्रों के बीच, उसके वजह से जो अवसरों में कमियां आ रही हैं, जिसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि संसाधनों का शोषण की वजह से अवसरों में काफी गिरावट आयी है। जो क्षेत्र अपनी संसाधनों से फायदे उठा सकते थे, उससे वो हमेशा के लिए बेदखल हो गया। यानी कि ये जो प्रक्रिया रही है उसमें हमारे संसाधन अंतर्राष्ट्रीय बाजार में तो पहुंच रहे हैं, स्थानीय संसाधन राष्ट्रीय बाजार तक तो पहुंच रहे हैं, जहां-जहां उनकी जरूरतें है वहां तक तो सीधा पहुंच रहे हैं, और विकास की प्रक्रिया भी शायद उसी ढंग से अपनायी गयी है। यानी अमीर राज्यों को और अमीर देशों को जो चाहिए वो मिल जाता है। सारे संसाधन उनके पास पहुंच जाते हैं। बात यहीं खत्म हो गयी।

जब हम किसी भी संसाधन को प्रक्रिया करते जाते हैं, यानी कि कपास से सूत बनाते हैं और सूत से कपड़ा बनाते हैं, कपड़े से शर्ट बनाते हैं – जब ये प्रक्रिया पूरी की पूरी उसी जगह पर स्थापित होती है और उसी जगह पर कार्यान्वित होती है तो वहां के लोगों को न सिर्फ अवसर मिलते हैं बल्कि और भी ज्यादा वहां के आय के स्तर को बढ़ाने में मदद करता है। ये सिर्फ आय को बढ़ाने और अवसरों को बढ़ाने का जरिया ही नहीं है, बल्कि ये भी है कि इसके साथ ही साथ जो लोग भी उसमें शामिल हैं, उनको उस संसाधन से जुड़े हुए जितने भी तौर तरीके हैं उनके बारे में जानकारी रहती है क्योंकि उनका इन्टर-एक्शन जिस संसाधन से रहा है उसके साथ एक नये ढंग का संबंध बनता है, वहां पर एक नई तकनीक विकसित होती है। ये बात मैं नहीं कह रहा हूं कि उस तकनीक में विकास की जरूरत नहीं है, उसमें बदलाव की जरूरत नहीं है। लेकिन अभी तक कि जो अवधारणा रही है जिसको कि मैंने उच्च स्तर से निम्न स्तर की अवधारणा कहा उसमें इस संसाधन से हम बिल्कुल वंचित हो जाते हैं। क्योंकि ये संसाधन उठाकर दूसरी जगह पहुंचा दिया जाता है और उसमें जो मूल्य हमें मिलना चाहिए, उससे हम वंचित हो जाते हैं। जैसा मैंने कहा कि उत्तराखण्ड में पर्यावरण विघटन की समस्या रही है। वहां पर जल, जंगल, जमीन और

जन आदि सबको लेकर नयी तरह की समस्याएं उभरी हैं और इसका संबंध मेरे ख्याल से धीरे-धीरे वहां पर जो गरीबी बढ़ रही है उससे है।

उत्तराखण्ड के क्षेत्रीय विकास के संदर्भ में देखें तो मैंने यहां पर कुछ चीजें उठायी हैं, वो ये है कि आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे सामने है। जो नये तरीके की चुनौतियां उभर रही हैं उनके बारे में मैं थोड़ी बातें आपके सामने रखने की कोशिश करूंगा।

सबसे पहली बात तो ये है कि क्षेत्रीय विकास की जो प्रक्रिया है उसमें सैद्धांतिक रूप से मैं विकेन्द्रीकरण में विश्वास करता रहा हूं। विकेन्द्रीकरण केवल उस तौर पर न देखें कि हमारे पास एक बड़ा सा कोई संसाधन है उसको तोड़-फोड़ कर लोगों के बीच बांट दिया। लेकिन वो स्वरूप जो बाद में प्लॉट का, संसाधन का और क्षेत्रीय विकास का स्वरूप होगा, उसको हम नीचे से उत्तरोत्तर जोड़ते हुए जब जाते हैं यानी कि उसका फोकस वो व्यक्ति होता है जहां पर कि संसाधन स्थित हैं। तो मेरे ख्याल से ये सोच जो है क्षेत्रीय विकास के या प्रादेशिक विकास को आगे बढ़ाता है। ये हमें आज के काफी सारे मुद्दों से जोड़ता है जो कि वैश्वीकरण से उभर कर आया है। इसलिए मैं ये मानता हूं कि क्षेत्रीय विकास की जो प्रक्रिया है वो निम्न स्तर से उच्च स्तर की प्रक्रिया है, निम्न स्तर से विकास की प्रक्रिया है।

क्षेत्रीय विकास की परिकल्पना में स्थानीय समाज की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जो किसी विशेष संसाधन पर ध्यान देकर उसे विकसित करती है। उसे उपभोग करने या उससे केवल पैसा कमाने की बात नहीं है बल्कि पैसा कमाने की प्रक्रिया में हम उस संसाधन को कैसे उपयोगी वस्तु में बदलें यह महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही स्थिर विकास पर ध्यान देना भी जरूरी है जिससे कि उससे हर आयु वर्ग तथा हर तबके का व्यक्ति जुड़ सके। मेरे ख्याल से क्षेत्रीय विकास की परिकल्पना में ये भी मुद्दा शामिल है। हालांकि मेरी गैर सरकारी संस्थान के बारे में सही राय नहीं

है। फिर इस काम को गैर सरकारी संस्थान अपने हाथ में ले तो सही परिणाम सामने आ सकते हैं।

जहां कहीं भी स्थानीय समाज में समुदाय पर आधारित संगठन ने स्थानीय संसाधनों को विकसित करने की कोशिश की है, वहां पर कम से कम तीन-चार बातें तो हुयी हैं। एक तो पानी की किल्लत में कमी आयी है, कृषि उत्पादकता बढ़ी है, पर्यावरण विघटन की प्रक्रिया में गिरावट आयी है, लोगों की जो माली हालत है उसमें सुधार हुआ है। सबको लगता है कि उन्होंने कुछ हासिल किया है। यह अपने आप में एक बहुत बड़ा पक्ष है जो किसी समाज को आगे बढ़ा सकता है। तो व्यक्तिगत रूप से सामाजिक रूप की ओर जो झुकाव है उसमें राजनैतिक इच्छा की बहुत जरूरत है।

चूंकि मेरा विषय भूगोल से संबंधित है, इसलिए जब हम क्षेत्रीय विकास की बात करते हैं तो भूगोल और क्षेत्रीय विकास दोनों में यह मान्यता है कि योजना प्रक्रिया या कोई भी विकास की प्रक्रिया बहुस्तरीय होती है। अर्थात् केवल एक क्षेत्र विशेष या एक समुदाय विशेष को केन्द्रित करके नहीं है बल्कि उसको वो दूसरे क्षेत्र और दूसरे समुदाय के साथ जोड़कर देखने की कोशिश करता है। इसलिए वैश्वीकरण से उसका कोई झगड़ा नहीं है। चाहे वो पूरे देश के या राष्ट्रीय स्तर के संसाधनों का प्रयोग हो, या जो अभी पूरी की पूरी बहस चल रही है ये संसाधन स्थानीय हों या राष्ट्रीय या क्षेत्रीय ही हों, पानी के बंटवारे को लेकर बात चल रही है, इस झगड़े को इस रूप में देखता है कि जो संसाधन स्थानीय लोगों या किसी समुदाय के लिए जरूरी हैं वो किसी स्थानीय के लिए जरूरी हैं तो पूरे देश के लिए भी जरूरी हैं। और इस तरह से उसमें बंटवारे की बात कही। इस तरह से उसका इस्तेमाल होना चाहिए ताकि हर स्तर पर जो अपेक्षाएं हैं, या इच्छित मात्रा है वो लोगों को मिल सके, प्रदेशों को मिल सके। इसलिए बहु स्तरीय योजना के अर्थात् बहुस्तरीय सोच है, बहुस्तरीय योजना है, इसमें हम एकीकरण की बात करते हैं, एक-दूसरे को जोड़ने की बात करते हैं, राज्य अर्थव्यवस्था, स्थानीय राज्य अर्थव्यवस्था को, प्रादेशिक राज्य

अर्थव्यवस्था के साथ जोड़कर विकसित करने की बात करते हैं। प्रादेशिक राज्य अर्थव्यवस्था को राष्ट्रीय राज्य अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ते हैं। राष्ट्रीय स्टेट अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ जोड़कर देखें तो उसमें कोई गलती नहीं है। लेकिन इसमें बहुत जरूरी ये है कि जो संसाधन है उसके इस्तेमाल की नीचे से शुरुआत हो और वो वैश्विक पक्ष में हो। अगर वो वैश्विक पक्ष है तो हम फिर से उस पुराने मॉडल की तरफ चले जाएंगे जिसमें हमने अपने संसाधनों को तभी पहचाना जब वैश्विक बाजार में उसकी पहचान बनी। एक पहचान है हमारे संसाधन की जो स्थानीय समाज के लिए बहुत जरूरी है, इसका मूल्यांकन इस स्तर पर होना चाहिए। तब ये देखना चाहिए कि हम उस स्तर पर कैसे खड़ा उतर सकते हैं। इसी संदर्भ में मैं दो बातें आपके सामने रखना चाहूंगा।

एक तो जिसको हम कोटिश टेक्नोलॉजी कहते हैं अभी तक रही है, जिसमें कि हमने संसाधन को एक कारखाने के अंदर उसकी शुरुआत से लेकर अंत तक पूरी की पूरी उत्पादक रेखा को यानी ट्रेन से लेकर कार तक उस कोटिश टेक्नोलॉजी की अब मेरे ख्याल से 90 के दशक में और वैश्वीकरण में जहां कहीं भी लागत कम पड़े तो कोटिश टेक्नोलॉजी की तिलांजली दी जा रही है। और दूसरा ये विचार भी बहुत उभरकर आया है जिसको कि हम कह रहे हैं **फ्लेगिबल स्पेसलाइजेशन** यानी कि जहां भी जिस व्यक्ति की जो स्पेसलाइजेशन है जो उसमें वो चुनौती लाए – माहौल को देखते हुए, बाजार को देखते हुए, तो **फ्लेगिबल स्पेसलाइजेशन** की जो बात की जा रही है इससे हम अपने आप को बचा नहीं सकते। उत्तराखण्ड के इतिहास को बचा नहीं सकते। वहां के गांव का एक आदमी अपने आप को बचा नहीं सकता। क्योंकि ये प्रक्रिया विश्व स्तरीय है।

मेरे ख्याल से जरूरत इस बात की है कि हम क्षेत्रीय विकास की परिकल्पना में ये जो वैश्वीकरण के दौर में फ्लेगिबल स्पेसलाइजेशन आ रहा है या जिसको कि हम कहेंगे पोस्ट कोटिश टेक्नोलॉजी की बात की जा रही है, जिसमें कि कार कहीं और बने लेकिन दूसरा पार्ट हो सकता

है उत्तराखण्ड के कोने में बने। एक माइक्रोचिप्स जो है उत्तराखण्ड के किसी गांव में बने। ये पॉसिबिलिटीज इमर्ज करके आ रही है जो कि आज मार्केट माहौल जो है, आर्थिक माहौल जो है, वैश्विक माहौल जो है वो इस बात की संभावना दे रहा है कि मेरे ख्याल से उत्तराखण्ड को इस बारे में भी सोचना चाहिए कि ये फ्लेगशिप स्पेसलाइजेशन ऑफ पोस्ट कोटिश टेक्नोलॉजी के कंटेक्स्ट में जहां एक ओर संसाधन उत्तरोत्तर विकास की बात कर रहे हैं। संसाधन को केन्द्र में डालकर आगे के विकास की प्रक्रिया की बात कर रहे हैं, वहीं पर हम इस बात पर भी सोचे कि क्या यह नहीं हो सकता कि जो भी फ्लेगशिप स्पेसलाइजेशन के दौर में जो भी फायदे, जो भी उद्योग छोटे या बड़े पैमाने पर इधर-उधर विकसित हो सकती है, उसका कितना बड़ा हिस्सा हमारे पास है। ये बहुत जरूरी होगा। अब ये मेरे ख्याल से मुश्किल नहीं है। क्योंकि तमाम राज्यों के मुकाबले अगर हम देखें तो उत्तराखण्ड में शिक्षा का स्तर बहुत बढ़िया है। गुणवत्ता की बात में नहीं कर रहा हूं। जहां हिंदुस्तान के एवरेज इयर ऑफ स्कूलिंग 1.8 है, यानी दो साल से कम समय तक बच्चे स्कूल में रह पाते हैं, वहीं उत्तराखण्ड में 4.0 के लगभग है। तो ये दुगुने से भी ज्यादा है। और यहां तक वहां की जो राजनीति है वहां पर जो है उसमें भी बाकी जगहों से जो सामाजिक संघर्ष है, उस तरह से संघर्ष मेरे ख्याल से उत्तराखण्ड के संदर्भ में नहीं है। इसलिए एक व्यापक रूप से सिद्धांत और दर्शन के अंतर्गत ये संभव है कि उत्तराखण्ड में हम विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया की जो हमने बात की है जिसमें निम्न स्तर से उच्च स्तर की योजना का मॉडल की बात है, बहुस्तरीय योजना की बात है, संसाधनों के केन्द्रीकरण की योजना की बात है। जिसमें राज्य की भागीदारी हो, समाज या स्थानीय समाज की भी भागीदारी हो, और बाजार की भी भागीदारी हो, उसमें हम किस तरह की रचनात्मक परिकल्पना कर सकते हैं। मेरे ख्याल से अभी ऐसी व्यापक परिकल्पना की कमी पूरे हिंदुस्तान में है। पूरी दुनिया में है। लेकिन छोटे-छोटे स्तर पर कई प्रयोग हुए हैं। मैं ये समझता हूं कि अगर हम बाजार के पक्ष को भी देखें और उसके लिए जो भी नियंत्रक है, उनको हम एक राज्य के माध्यम से कर पायें।

लेकिन जहां तक संसाधन के उपयोग और नियंत्रण की बात है, उसमें बहुस्तरीय योजना के अंतर्गत हर वर्ग उसमें शामिल हो, हर क्षेत्र शामिल हो जो किसी न किसी स्तर पर उसमें शिरकत कर रहा हो। यानी कि राज्य नियंत्रण की जो बात है अगर उनकी शिरकत है, तो मेरे ख्याल से सामर्थता बढ़ती है और संसाधनों की अवनति होती है वो नहीं हो पाता है। मेरे ख्याल से इसको लोगों ने कई जगहों पर देखा है। नेपाल के संदर्भ में वनों को लेकर बात देखी गयी है, वन प्रबंधन संधि के संदर्भ में पश्चिम बंगाल में भी इस बात को समझा गया है और छोटे से इलाके में जहां पर कि मैंने एक छोटा सा फील्ड-वर्क किया था संथाल परगना के किसी इलाके में, वहां पर भी हमने देखा कि जब से ग्रामीण स्तर पर वन प्रबंधन की बात हुयी है, वहां पर लोगों के आय स्तर में बहुत परिवर्तन आया है। हालांकि बिहार में जो नौकरशाही थी वो उतनी ही प्रबल थी जो लोगों को उनका हक लेने नहीं देती थी। लेकिन ऐसी नौकरशाही के बावजूद भी जहां पर ग्रामीण स्तर पर एक ऐसा संस्थान विकसित हो जाता है जिसको कि ऊपर तक और समाज में एक स्वीकृति मिल जाती है तो मेरे ख्याल से वो भव्य शासित कर पाता है। तो उसी परिप्रेक्ष्य में हमें राज्य की परिकल्पना करनी पड़ेगी, गैर सरकारी संस्थाओं की परिकल्पना करनी पड़ेगी।

पिछले साल 'सहयोग' का जो मसला था उस समय कुछ पढ़ने में आया कि उत्तराखण्ड में एन.जी.ओ. उतने हैं जितने कि गांव भी नहीं है। मुझे आश्चर्य हुआ कि अगर एन.जी.ओ. इतने हैं तो उत्तराखण्ड की ऐसी हालत क्यों है? अगर हर एन.जी.ओ. एक गांव ले लें तो उत्तराखण्ड की काफी चीजें बदल सकती है। तो समस्या ये है कि एन.जी.ओ. के परिप्रेक्ष्य में हमें मालूम है कि एन.जी.ओ. की कोई जवाबदेही नहीं है। आज एन.जी.ओ. को जो फंडिंग मिल रही है, उसमें इंटरनेशनल एजेंडा काम कर रहा है। जिसमें अभी भी वही वर्ग रुचि ले रहा है जो पहले उच्च स्तर से निम्न स्तर की नौकरशाही के साथ था। अर्थात् आज एन.जी.ओ. का स्वरूप वही है जो कि 80 के दशक तक नौकरशाही की पहचान थी। तो एन.जी.ओ. में संस्थागत स्तर पर बदलाव आया है, उसका जो असली स्वरूप है अभी तक उसमें कहीं कोई तब्दीली नहीं आयी है। जहां

तक मुझे मालूम है झारखंड की राजधानी रांची जिले में 90 एन.जी.ओ. काम कर रहे हैं, उसमें 75 को तो सेवानिवृत्त नौकरशाह चला रहे हैं। अर्थात् ये सेवानिवृत्ति के बाद का जरिया हो गया है। पैसे का कहां से किस तरह का इस्तेमाल हो रहा है उसके प्रति, समाज के प्रति, खासकर के उस समुदाय के प्रति उनकी कोई जवाबदेही नहीं होती। जब तक कि संस्थागत अनुपात न तैयार हो जिससे राज्य और समाज के प्रति एन.जी.ओ. की जवाबदेही की हम बात कर सकें, उनके उत्तरदायित्व की बात कर सकें, तब तक एन.जी.ओ. के बारे में बहुत सकारात्मक रूप से बात नहीं की जा सकती।

जरूरत इस बात की है कि उत्तराखण्ड एक नया राज्य है और इसमें अभी छोटे-छोटे 13 जिले हैं। 2011 में 15 जिले हो सकते हैं, उसके बाद हो सकता है 30 जिले भी हो सकते हैं। बिहार की शुरुआत 15 जिलों से हुयी लेकिन मेरे ख्याल से जब तक बंटवारा नहीं हुआ था तब तक 52 जिले थे। छोटे-छोटे ऐसे जिले बनते रहेंगे, नये-नये आकार, नयी-नयी योजना, मॉडल, नौकरशाही के ढांचे आदि में बदलाव आते रहेंगे। इसलिए मैं ये सवाल आप लोगों के सामने रखना चाहूंगा कि क्या ये जरूरी नहीं कि हम एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित आधार पर प्रशासनिक सेवाओं को फिर से स्थापित करने की कोशिश करें। अगर हम प्रशासनिक सीमाओं को वैज्ञानिक तौर से देखने की कोशिश करें तो मुझे जो दो आधारभूत तत्व नजर आते हैं वो ये है कि उत्तराखण्ड के संदर्भ में हम उसको जल विभाजक प्रबंधन के संदर्भ में देखें। हम जल को केन्द्र में रखते हुए निम्न स्तर लेकर यानी गांव, ब्लॉक या तहसील से लेकर हम ऐसा संगठन तैयार करें जो कि स्थानीय जल विभाजक से लेकर कृषि जलवायु क्षेत्र तक लोगों को उनके संसाधन से जोड़ते रहे। तो मेरे ख्याल से ये जो पक्ष रहेगा, उसमें आय और अवसरों के विस्तार से अगर उसका फायदा अगर मेरे घर को है तो मेरे क्षेत्र को भी है। यानी कि जिले को है और गांव को है तो उसके पड़ोसी गांव को भी है। और मेरे ख्याल से ये जरूरी है कि नदी तथा वर्षा के जल का संग्रह, नदी में होता है, तालाबों में होता है। लेकिन ये भी जरूरी है कि उत्तराखण्ड के प्राकृतिक

स्वरूप को देखते हुए ऐसे ताल और तालाब छोटे-छोटे पैमाने पर काफी बड़े हो सकते हैं, जिससे कि हमारे स्थानीय जल संसाधन की आवश्यकता है वो काफी पूरी हो सकती है। तो जो आधारभूत तत्व होने चाहिए जिसके आधार पर हम पूरे इस स्वरूप का शासन का ढांचे को वैज्ञानिक आधार पर प्रशासनिक इकाइयों के आधार पर देखें। मेरे ख्याल से अब दक्षिण अफ्रीका में ऐसा होना शुरू हो रहा है। जिसमें पूरी तरह से आर्थिक संदर्भ में और प्रादेशिक संदर्भ में उन तत्वों की पहचान की गयी है। जिनके आधार पर फिर से हम वहां पर स्थानीय प्रशासन चला सकें। और स्थानीय प्रशासन का ढांचा भी पूरी तरह से क्षेत्रीय और संसाधन संवेदनशील हो गया है। अर्थात् प्रादेशिक और संसाधन संवेदी हो गया है। वह स्थानीय संवेदना से देश की संवेदना के बारे में भी सोच रखता है।

यहां पर मैं देख सकता हूं एक तरफ कुमाऊं है, दूसरी तरफ गढ़वाल है। दोनों क्षेत्रों की अपनी अलग पहचान है। इस पहचान को बरकरार रखते हुए अगर उनके अंदर जो अलग-अलग प्राकृतिक संरचनाएं हैं, उनके अंदर जो संसाधन हैं, उनको केन्द्र में रखते हुए अगर हम एक प्रशासनिक ढांचे की परिकल्पना करें तो मेरे ख्याल से बहुत जो विसंगतियां हैं प्रशासनिक स्तर पर वो काफी हद तक घटायी जा सकती है और एक आंतरिक संबंधों को स्थापित करने के संदर्भ में मेरी सोच के हिसाब से बनेगी। वहां जो ऊर्जा, काम करने की क्षमता और तत्व हैं उसका फलो स्वतः होता रहेगा, उसमें रुकावट की गुंजाइश बहुत ही कम होगी। इसलिए मेरे ख्याल से उत्तराखण्ड में केवल जल, जंगल और जमीन से जो जुड़े सवाल हैं, उनको हम तब नहीं सुलझा सकते जब तक कि हम स्थानीय संस्थानों की बात करें और स्थानीय संस्थानों को स्थानीय संसाधनों से जोड़कर देखना पड़ेगा। इसके लिए राजनैतिक इच्छा की आवश्यकता है। राज्य तो हमने हासिल कर लिया, लेकिन उसके बाद क्या? उसके बाद ये जरूरी है कि नये सिरे से हम इस राज्य को फिर से संवारे। उसकी राजनीति को बदलने की कोशिश करें और ये सब वैज्ञानिक आधार पर हो तो मेरे ख्याल से हर किसी का उसमें कल्याण होगा।

उत्तराखण्ड तमाम संसाधनों के दोहन के बावजूद भी आज एक ऐसे कगार पर है वहां से भी वह आगे बढ़ सकता है – ऐसा मैं सोचता हूं। चीजें अभी पूरी तरह से खत्म नहीं हुयी है, वहां पर संसाधन हैं। संसाधनों के उत्तरोत्तर विकास की आवश्यकता है और वो तभी हो सकता है जब कि हम अपने इलाके की तरफ ज्यादा गौर से देखेंगे। मुझे उत्तराखण्ड के परिप्रेक्ष्य में एक बड़ी समस्या नजर आती है वो है कि जो कामकाजी वर्ग (मैं लिंग के आधार पर नहीं देख रहा हूँ) जो वर्ग काम कर सकता है, जो उस तरह का इसमें भागीदारी दे सकता है, वो मेरे ख्याल से उत्तराखण्ड में कम है बचा हुआ। क्योंकि जो पलायन की प्रक्रिया रही है शुरू से, उसमें वो वर्ग है नहीं वहां पर। वहां पर आयु वर्ग नहीं है। लेकिन पलायन के साथ ही साथ क्योंकि सबसे बड़ा तत्व होता है, वो होता है मनीऑर्डर अर्थव्यवस्था का। बहुत सारे अर्थशास्त्रियों ने इस पर बात पर चर्चा की है कि जो पैसा आता है उसका किस तरह से इस्तेमाल होता है। दूसरा मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि अगर इसका सर्वेक्षण किया जाए तो मेरे ख्याल से उत्तराखण्ड में ये केवल उपभोग आधारित है, इसका कहीं उत्पादन निवेश नहीं हो पाता है। बहुत छोटा हिस्सा उत्पादन निवेश के तौर पर जाता है। अगर इसको पंजाब और हरियाणा से तुलना करें तो वहां से भी एक बहुत बड़ा तबका सैनिक क्षेत्र में गया। उसी तरह से मेरे ख्याल से आपके उत्तराखण्ड में भी है। लेकिन इसके बावजूद भी सभी जगह जो प्रभाव रहा अर्थात कि जो लोग वापस लौटे उन्होंने जिस तरह से हरियाणा-पंजाब में सहयोग किया। मेरे ख्याल से वैसा कुछ उत्तराखण्ड में हो नहीं पाया। जरूरत इस बात की है कि हम इनका कैसे मूल्यांकन करें और देखें कि इसमें क्या किया जा सकता है? अंततः मैं ये कहना चाहूंगा कि उत्तराखण्ड को किसी भी विकास की पद्धति से अपने-आप ही जोड़ने की जरूरत नहीं है, बल्कि मूल्यांकन की जरूरत है। मेरे ख्याल से यह तभी संभव जब हम अपने योजना के मॉडल में विकेन्द्रीकरण को बहुत ज्यादा महत्व नहीं देंगे।

प्राकृतिक संसाधनों की राजनीति और उत्तराखण्ड का भविष्य

शेखर पाठक

जब हम उत्तराखण्ड के संसाधनों की बात कर रहे हैं, तो हम एक ऐसे भूगोल की बात कर रहे हैं जो विविधता से भरा हुआ है। उत्तराखण्ड के पास गंगा-यमुना मैदान का उत्तरी छोर है जिसको हम तराई कहते हैं वह बहुत उपजाऊ है। सबसे बड़ा जमीनी संघर्ष वहीं है और वहीं से उत्तराखण्ड राज्य न बनने के स्वर बुलंद हुए। इस उत्तराखण्ड में जरा और आगे जाते हैं तो भाभर का इलाका, दून का इलाका आता है। दून हमारे इलाके में बहुत विशेष है, क्योंकि नेपाल की तरफ वह गुम हो जाता है और जम्मू की तरफ जाते-जाते वह बहुत दूसरे किस्म का रूप ले लेता है। इसके बाद फिर हम पहाड़ों में घुसते हैं। बाहरी हिमालय से चलते-चलते उच्च हिमालय तक चले जाते हैं। जिसमें उत्तराखण्ड की बहुल जनसंख्या निवास करती है। उसके बाद हम उच्च हिमालय में चले जाते हैं, जहां हमारे तीर्थ हैं, जहां हमारी मुख्य चोटियां हैं, तमाम ग्लेशियर हैं – जहां से हमारी नदियां जन्म लेती हैं और उसके पार भी उत्तराखण्ड है जिसको हम ट्रांस हिमालय कहते हैं। यानी कि उस पार का हिमालय। हालांकि वह जलागम के हिसाब से नीचे से ही जुड़ा हुआ है और अंततः गंगा-यमुना या काली के ही विराट जलागम में वो पानी समाहित होता है।

इस कठिन भूगोल की हम बात कर रहे हैं तो ये बताते हुए कि उत्तराखण्ड अपने आप में कोई एक एकात्मक किस्म का भूगोल नहीं है। वहां जबरदस्त तरीके से विविधता भरा भूगोल है। इसलिए पहाड़ी राज्य में उसकी तुलना न तो हिमांचल से की जा सकती है, जिसके पास अपना कोई उस तरीके का मैदानी आंगन नहीं है और न ही सिक्किम से की जा सकती है और नॉर्थ-ईस्ट से तो नहीं ही की जा सकती है। कश्मीर इसमें एक भिन्न किस्म का इलाका है। उसको भूगोल ने तीन प्राकृतिक भागों में पहले से ही बांटा हुआ है।

उत्तराखण्ड के संसाधनों की बात करते हुए हमारे मन में यह भी आएगा कि हम आज 2002 में वैश्वीकरण के दौर में उसकी चर्चा कर रहे हैं। अमरीका के बड़े पहलवान हो जाने के जमाने में हम इसकी बात कर रहे हैं। हम ऐसे जमाने में इसकी बात कर रहे हैं जब जोहांसवर्ग में अमरीका का राष्ट्रपति जाने से इंकार कर रहा है। संसाधनों की बात एक तरीके से हम ऐसे मौके पर भी कर रहे हैं जब उत्तराखण्ड का भूगोल बताता है कि विकेन्द्रीकरण के अलावा यहां काम करने के लिए कोई और रास्ता नहीं है। क्योंकि भूगोल उसमें आड़े आ रहा है। वो भूगोल बहुराष्ट्रीय और वैश्वीकरण के बड़े एजेंटों के प्रतिपक्ष में जाता है। दूसरा संविधान प्रदत्त 73-74 सुधार एक तरीके से शक्ति अवनति करने के लिए संवैधानिक रूप से आपको विवश करते हैं। ऐसे मौके पर भी हम संसाधनों की बात कर रहे हैं, जब एन.जी.ओ. जबरदस्त तरीके से हावी भी हो रहे हैं और अपने आप को प्रकट भी कर रहे हैं। वो बेईमानी करने लगे हैं और वो लोगों के प्रति और लोगों के विषयों के प्रति उतने जिम्मेदार नहीं है जितने कि शुरू में गलतफहमी की वजह से हम लोग इनसे अपेक्षा करते थे।

दरअसल उत्तराखण्ड के या किसी भी और भूगोल के जो संसाधन हैं, वो मुख्यतः जमीन से जुड़े हुए संसाधन हैं। मानव संसाधन को यदि हम आधा प्राकृतिक और आधा अप्राकृतिक कहें तो मेरी नजर में उत्तराखण्ड में चार बड़े संसाधन आते हैं। चार संसाधनों में से जो एक बुनियादी संसाधन हैं – वह है जमीन। ये जमीन है, तभी हम हैं। अगर जमीन नहीं है तो हमारी वहां कोई हैसियत नहीं है। और जिनके पास जमीन नहीं है उनकी हैसियत आप समझ सकते हैं। बहुत सारे जो शरणार्थी अभी बने हुए हैं यहां या वहां। बहुत से लोग जो 1947 के बाद भी बस नहीं पाए – उनकी दशा अभी देखने लायक है।

जमीन वह होती है जो सांस्कृतिक-आर्थिक रूप से आपको कायम रखती है, जहां आप कुछ कर सकें। तो अगर जमीन की बात की जाए तो उत्तराखण्ड के जमीन के बारे में बहुत सारी गलतफहमियां हैं। लोगों को ये लगता है कि उत्तराखण्ड की पूरी जमीन जैसे कि लोगों ने दबोच

रखी हो और खेती हो रही हो – ऐसा नहीं है। उत्तराखण्ड के कुल भूगोल का, हरिद्वार जिले के मिलने के बाद लगभग 15 प्रतिशत ऐसा है जिसको हम खेतिहर जमीन कहते हैं। अगर उसमें से आप और अच्छी तरह से गणना करें और हरिद्वार जिले को निकाल दें, देहरादून का मैदानी हिस्सा निकाल दें और उधम सिंह नगर जिला और नैनीताल की तराई या भाभर उसमें से निकाल दें तो शुद्ध पर्वतीय इलाके में खेती के अंतर्गत जमीन का प्रतिशत आठ से नौ आता है। हालांकि सरकार की ओर से कोई विश्वसनीय आंकड़ा नहीं आया है, लेकिन रिमोट सेन्सिंग से लेकर और दूसरे तरीके के सर्वेक्षण बताते हैं कि मात्र 8–9 प्रतिशत जमीन ऐसी है जो खेती के अंतर्गत है। जिसको हम व्यक्तिगत मालिकाना हक कहेंगे। इसके मुकाबले हमारे बगल में बहुत सारे नौकरशाह और राजनेता आदर्श मानते हैं। वहां कम से कम 28 प्रतिशत जमीन ऐसी है जो लोगों के खेती और बगीचे के रूप में व्यक्तिगत स्वामित्व में है। तो खेती से लेकर, बागवानी से लेकर यानी कि जो भी भूमि प्रयोग के परिवर्तन के आधार पर सूअर का बाड़ा रखने से लेकर मुर्गी पालने तक या मौसमी या गैर मौसमी सब्जियां उगाने तक, वो उसी जमीन में होना है। आपको पॉली हाऊस भी लगाना है तो आपको जमीन चाहिए। आप छत में बहुत ज्यादा पॉली हाऊस नहीं लगा सकते हैं। तो ये जमीन का परिदृश्य है। नये राज्य में किसी को नयी जमीन नहीं मिल गयी है, बल्कि बड़ा मुद्दा ये रहा कि तराई की जमीनें जो बड़े-बड़े भूस्वामियों ने दबायी हुई है, उस मुद्दे को किसी भी राजनैतिक पार्टी ने या बहुत कम ऐसे कार्यकर्ता हैं जिन्होंने अपने एजेंडे में रखा है।

हालांकि पहाड़ में उस तरीके की जमीन का बहुत ज्यादा दृन्ध नहीं है। लेकिन जमीन का स्वामित्व इतना कम है कि एक हेक्टेयर जमीन भी एक परिवार के पास नहीं है। अगर सरकार का अंतिम आंकड़ा माना जाय तो लगभग 0.65 हेक्टेयर या 0.70 हेक्टेयर के करीब जमीन प्रति परिवार हमारे उत्तराखण्ड में है। इसलिए व्यक्तिगत स्वामित्व की जमीन इतनी कम है कि नया राज्य बन जाने के बाद भी आपके पास कुछ करने के लिए बहुत गुंजाइश नहीं है। उस पर भी आपके खेत बिखरे हुए है। मान लिया आप एक बड़ा पॉली हाऊस लगाना चाहते है, मान लिया आप मुर्गी पालने का

जोखिम उठाना चाहते हैं, और अपना पिछड़ापन छोड़कर आप नई चीजों में उद्यमिता करना चाहते हैं, आपके पास बुनियादी जमीन नहीं है।

इस जमीन में से करीबन 64 प्रतिशत जंगलों के अंतर्गत गयी। करीबन 22 प्रतिशत जमीन ऐसी है जिसमें से 15 प्रतिशत गल है, बर्फ है, हायर हिमालय के बुग्यालों के अलावा कांटे वाले वो इलाके हैं जो हमारे उच्च हिमालय वनों को एक तरीके से रचते हैं। करीबन 7 प्रतिशत जमीन इस तरीके की है जिसको कि हम साधारण कहते हैं। यानी कि पनघट, गोचर, गांव-पंचायत, बहुत सारी शब्दावलियां उसके लिए आती हैं, जिनमें जबरदस्त तरीके से घुसपैठ हुयी है। एक आदमी ने प्राइवेट पार्टी से जमीन ली और उसके बगल में जो पनघट-गोचर की जमीन है उसको दबोच लिया और उसके जरा सी बगल में जो आपकी संरक्षित वन है, उसमें भी वो घुस गया। ऐसे उदाहरण उत्तराखण्ड में दर्जनों नहीं, सैकड़ों उपलब्ध हैं। सरकार को उनकी जानकारी है। कभी-कभी तो उसमें बड़े लोग यानी नेता और नौकरशाह दोनों भी शामिल होते हैं।

अब आपकी अधिकांश जमीनें बिकने लग गयी है। आप हमारे जिला मुख्यालयों को, तहसील मुख्यालयों को देखिए। उन्होंने हमारी जो सबसे बेहतरीन खेतीहर घाटियां थी वो खा डाली है। पिथौरागढ़, गोपेश्वर, उत्तरकाशी, पुरोला, बड़कोट, ऊखीमठ, मुन्स्यारी और धारचूला आदि जितनी तहसीलों और जिला मुख्यालयों की चर्चा करेंगे सब जगह यही हाल है। भला हो कि हमारे जिले तेरह की संख्या में रूक गये हैं। बचा-खुचा चम्पावत और लोहाघाट का जो इलाका था वो भी अब बिल्डिंगों के द्वारा, दफ्तरों के द्वारा खा लिया जाएगा।

दूसरी ओर आम जनता अपनी जमीन का उपयोग भी ठीक तरह से नहीं कर सकती है। अगर पानी का पाइप लगना है तो फॉरेस्ट ऐक्ट 1980 आड़े आ जाता है और कहा जाता है कि इससे तो जंगल की हानि हो रही है आदि-आदि। हालांकि उसका तंत्रीकरण है कि अगर आपकी अर्जी विधिवत दिल्ली आ रही हो तो उसको पास होने में बड़ी दिक्कत नहीं होती। क्योंकि देश के अन्य

हिस्सों से ऐसे बहुत ज्यादा उदाहरण नहीं आए हैं। फॉरेस्ट ऐक्ट 1980 तो पूरे देश में लगा हुआ है। लेकिन दिक्कत सिर्फ उत्तराखण्ड में ही क्यों होती है। जब इसका उत्तर ढूंढने के लिए हम निकले तो पता चला कि हमारी जो नौकरशाही है या वन विभाग है, उसको कभी विधिवत सामने रखकर उसकी अनुमति लेने की कोशिश ही नहीं करता था और अंत में सड़क भी कहीं बन रही है तो उसमें वही बहाना आता है कि फॉरेस्ट ऐक्ट 1980 आड़े आ रहा है।

अब ज्यादा जमीन रही नहीं। देहरादून तथाकथित अस्थायी राजधानी है जिसको हिलाना बड़ा मुश्किल होगा। तो देहरादून के लीची के बाग तो पहले ही खत्म हो गये हैं जो बासमती की खेती थी वो वाला इलाका भी वहां लगभग खत्म होने जा रहा है। तो ये जो खेतीहर जमीन थी जो लील ली गयी, उसका विकल्प आप कहां ढूंढेंगे? और वो विकल्प आपको जल्दी नहीं मिलने जा रहा है। क्योंकि टिहरी के शरणार्थियों को और हाल में जो भूस्खलन आए उनके शरणार्थियों को, 1999 के, 1991 के भूकंप पीड़ितों को अभी तक आप बसा नहीं सके। टिहरी का जो सबसे बड़ा उदाहरण है, अभी भी डूबती हुयी टिहरी के भीतर लोग मौजूद हैं जिनको न कोई हर्जाना मिला है और न कोई जमीन मिली है, न मकान मिला है, न कोई केश मिला है।

अब इसके बाद यह बात आती है कि अंग्रेजों के जमाने से पहले हमारे यहां जमीनों का स्वामित्व किस तरीके का था। उसमें कहा तो जाता था कि राजा की सब जमीन है, लेकिन वर्चुअली लोग जहां पर जो चाहते थे उस हिसाब से अपनी जमीन का फैलाव करते थे। हमारे यहां झुंड खेती होती थी, आज भी उसके लिए कठिन शब्द है, इजर शब्द है जो कि अंग्रेजों के जमाने में बंद हो गये।

अंग्रेजों ने पहली बार ट्रेल से लेकर रामजे के जमाने में विधिवत मैन सेटलमेंट करके व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर खेती की जमीन देना शुरू किया और उसके एवज में अपने लिए भी चाय के बगीचे शुरू किये। ये जो व्यक्तिगत स्वामित्व है ये लगभग 1840 के बैटर्न के सेटलमेंट के

साथ शुरू होती है। उसी के साथ उत्तराखण्ड में यूरोपीयन जो थे उन्होंने चाय की खेती शुरू की और बड़े-बड़े जमीन के जो पैकेज थे उन्हें व्यक्तिगत रूप से अपने स्वामित्व में करने की शुरुआत की। उसके बाद ये प्रक्रिया आगे चलती रही। कुछ ही सालों के बाद वन एक मुख्य विषय के रूप में आ गया। इसको मैं आगे बताना चाहूंगा आपको कि किस तरीके से 1865 की 78 की और इसके बाद के ऐक्टों के बाद एक बहुत बड़ा इलाका जो हमारे पास मौजूद था, उसको सरकार ने लेना शुरू किया। क्योंकि यह जो कम जमीन थी। ट्रेल के जमाने से लेकर आज तक 13 प्रतिशत ही हमारी जमीन है। पहले 11 थी, कभी 13 हो जाती है, कभी 15 हो जाती है। उसका भौगोलिक क्षेत्र बहुत ज्यादा बड़ा नहीं है। बावजूद इसके कि तराई में बहुत ज्यादा विस्तार हुआ है।

आज जब हम नये राज्य में है जहां आदमी के रहने के लिए, जंगल को उगने के लिए, नदी को बहने के लिए या किसी भी तरीके का काम करने के लिए आपको जमीन चाहिए, वहां जमीन जबरदस्त तरीके से अनुपलब्ध है और अगर उपलब्ध है तो सिर्फ बड़े-बड़े पैसे वाले लोग ही उसे खरीद सकते हैं। देहरादून हो, नैनीताल हो, नीचे के तराई के इलाके में हो, नैनीताल से लेकर चम्पावत तक हो, या मसूरी से लेकर चम्बा तक हो या गंगा जी के किनारे की जमीन हो, वो सबकी सब बिक चुकी है – राज्य बनने से पहले ही। आज जमीन के लिए बहुत ज्यादा गुंजाइश नहीं है कि कोई उसकी खरीद-फरोख्त करे या सरकार में इतना दम नजर नहीं आता है कि वो तराई के जमीनों का पुनर्निरीक्षण करे। जहां थारू-बुक्साओं की जमीन दबोचे हुए हैं लोग, उनको लौटाने का या भूमिहीनों को बसाने का मामला हो इस तरह की पॉलिटिकल इच्छा तो दूर रही, यह अनुगूंज तक उनके दिमागों में कहीं नहीं है। तो ये जमीन का परिदृश्य है, जो हमारा सबसे बुनियादी संसाधन हैं।

इसके बाद दूसरा संसाधन है जो जमीन से ही जुड़ा हुआ है, लेकिन जमीन से जरा भिन्न भी है – वो है जंगल। जंगलों का 64 प्रतिशत क्षेत्र ऐसा है जिसको कहा जाता है कि ये जंगली क्षेत्र है। जिसमें अच्छे सघन वनों से लेकर मात्र मामूली किस्म के वन या बहुत ही बिखरे हुए वन

मौजूद हैं। लेकिन इसमें ज्यादातर पर वन विभाग का स्वामित्व है। चाहे संरक्षित वन हों, चाहे आरक्षित वन हों। उसके बाद पंचायते हैं जो लोगों की है, कुछ निजी वन है, कुछ ग्राम समुदाय के वन हैं और कुछ कंटोनमेन्ट्स के और नगरपालिकाओं के वन भी है। कुछ उस तरह के भी वन है जिनको सेक्रेड ग्रुप कहा जाता है। किसी मंदिर को चढ़े हुए, किसी देवता को चढ़े हुए परिरक्षण के लिए – ये सब हमारे जंगल को बनाते हैं। अब हरिद्वार जिले के मिलने के बाद कुछ प्रतिशत 64 से लगभग 62 पर आ गया है। तो उत्तराखण्ड के सारे जिलों में 62 प्रतिशत भूगोल वनों के अंतर्गत या वनों के वर्ग में रखा गया है। जो लगभग 53 हजार स्क्वायर किलोमीटर में फैले हुए हैं। तेरह जिले और दो मंडल है और जो भूगोल की विविधता मैंने बतायी थी वो तो है ही।

इस छोटे से भूगोल में बहुत जैविक विविधता है। तराई में आपको साल के, सागौन के, सीसम के वन मिलना शुरू होंगे। उपर को जाएंगे तो चीड से गुजरते हुए आप बांज और बांज से आगे देवदार और देवदार से आगे भोज वृक्ष तक जाते हैं। यानी कि 125–150 किलोमीटर की चौड़ाई में इतनी विविधता आपको वनों की मिलेगी जो इस रूप में बहुत दुर्लभ है। वो इसलिए कि हमारे कुछ हिमालयी राज्यों के पास तराई–भाभर है ही नहीं। कहीं–कहीं ट्रांस हिमालय भी उसके जैसा नहीं है जैसा कि हमारे उत्तराखण्ड में मौजूद है। तो ये जो जैवविविधता है, जिसका वन बहुत बड़ा घटक है, वह हमारे यहां बहुत बड़ी है।

लेकिन पिछले 15 सालों से विकास का जो नजरिया है कि वर्ल्ड बैंक के अंतर्गत, बड़ी–बड़ी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और योजनाओं के अंतर्गत जो योजनाएं हमारे यहां आती है, बहुत सारी तो बहुत अच्छे काम के लिए आती हैं, जैसे कि जल विभाजक प्रबंधन के नाम पर भी आ रही हैं और उन्होंने जल विभाजक को किस तरह से नष्ट किया, पिछले 50 साल का अध्ययन कोई करेगा तो वो उजागर हो जाएगा। बहुत बड़ा पैसा आया। उसका आइडिया भी बुरा नहीं था और जलागम की पद्धति खुद हमारे समाज ने विकसित की थी। हमारे बहुत सारे ग्राम समाज भी हैं जो जलागम की पद्धति पर विकसित हुए हैं। लेकिन जलागमों के संरक्षण और वाइल्डलाइफ कंजर्वेशन

के नाम पर जब योजनाएं आयी तो उत्तराखण्ड के कुल भूगोल का 20 प्रतिशत बायोस्फेयर रिजर्व या नेशनल पार्क या सेंचूरीज के अंतर्गत आता है। उनमें से कुछ नाम आप बहुत अच्छी तरह से जानते होंगे, जैसे जिम कार्बेट नेशनल पार्क, राजाजी नेशनल पार्क, गोविन्द पशु विहार, अल्मोडा के बिल्कुल बगल में जहां कोई संकट नहीं था, वहां जबरदस्ती वन विभाग के विरोध के बावजूद भी विन्सर सेंचूरी बना दी गयी। अस्कोट सेंचूरी का अभी लोगों को पता नहीं है कि उसका भूगोल कितना है और उसी तरीके से नन्दादेवी अभ्यारण, इसी तरीके से गंगोत्री अभ्यारण, इसी तरीके से फूलों की घाटी का अभ्यारण्य है, एक-दो छोटे और हैं। ये हमारे कुल भूगोल का 20 प्रतिशत ले लेती हैं और इनके भीतर हमारे मनुष्यों को जाने का अधिकार नहीं है। रैणी वाले जो सदियों से नन्दादेवी सेंचूरी के भीतर अपने सांस्कृतिक और प्राकृतिक रिश्ते को बनाये हुए थे, वो रैणी और लाता के लोग जिन्होंने चिपको आंदोलन में भी बड़ी शिरकत की थी – वो नन्दादेवी सेंचूरी के भीतर नहीं जा सकते हैं।

चीन जैसे समाज में जो कि एक साम्यवादी देश है, उनके तिब्बत में बहुत बड़ा नेशनल पार्क है क्यू.एन.एन.पी.। तैंतीस हजार वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ। वहां उन्होंने अपने कंजरवेशन के एजेंडे में ये भी रखा है कि इस नेशनल पार्क के भीतर जो संस्कृति है (हालांकि बहुत सारे मठ पहले उन्होंने तोड़े हैं, अब उनको वो फिर से बना दिए हैं) और जो यहां मनुष्य रहते हैं उनका कंजरवेशन भी इसके भीतर शामिल हैं। पर हमारे यहां नेशनल पार्क जो है उसमें बाघ का कंजरवेशन भी शामिल है, हाथी का कंजरवेशन शामिल है। हालांकि वो बेचारे फिर भी सुरक्षित नहीं है। इतने बंदूकधारियों और इतने विभागों के बीच में हाथी, शेर, कस्तूरमृग और हिरण सब मारे जा रहे हैं। तो ये 20 प्रतिशत आप कुल भूगोल में से घटा हुआ मानिए। अगर आप 53000 स्क्वायर किलोमीटर उत्तराखण्ड के भूगोल से सहमत हैं। तो उसका 20 प्रतिशत यानी उसका वन-फिफथ जो है नेशनल पार्क और अभ्यारणों के भीतर चला गया।

इसी के भीतर क्या हुआ कि लगभग 1864 में, फिर 78 में और फिर 1927 में जो फॉरेस्ट्र के ऐक्ट आये उनमें धीरे-धीरे लोगों के वनाधिकारों को सीमित करने का निर्णय लिया गया था और उन इलाकों को जिसमें लोगों को उन्मुक्त होकर विचरण करने का अधिकार था, वहां उन्होंने संरक्षित वन बना दिया। जैसा मैंने पहले बतलाया था कि हमारे उत्तराखण्ड में जंगल सत्याग्रह हुआ। उस सत्याग्रह के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने हार मानी। वही जंगल सत्याग्रह, वही बेगार आंदोलन, अंततः उत्तराखण्ड के लोगों को राष्ट्रीय संग्राम में लाने में कामयाब हुआ। अब इस जंगल सत्याग्रह का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि हम जंगल की लड़ाई लड़ते हुए ही राष्ट्रीय संग्राम की लड़ाई में शामिल हो सकते हैं। हम बेगार की लड़ाई लड़ते हुए ही राष्ट्रीय संग्राम में शामिल हो सकते हैं और वाकई इनका जो पूर्वार्द्ध था स्थानीय आंदोलन था और इनका उत्तरार्ध अंतराष्ट्रीय आंदोलन हो गया था और अंग्रेज सरकार ने यानी कि जिसको तथाकथित कॉलोनियम, दमनकारी सरकार कहते हैं, उसमें तीन हजार वर्गमील जमीन जो ले ली थी 1911 के वन बंदोबस्त के समय, वह विधिवत, ससम्मान लोगों को लौटायी, और उसकी दो वर्ग बनाकर लोगों से कहा कि इसमें आपको पूरी तरह आने का अधिकार होगा। इसमें आपको वैकल्पिक मौसम वर्ष में आने का अधिकार होगा। यह अपने आप बहुत बड़ी चीज थी। इतनी बड़ी चीज हम चिपको आंदोलन के दौर में भी प्राप्त नहीं कर पाए। उसके बाद देश आजाद हो गया। लेकिन हम लोगों ने आजादी के बाद आज तक वन के लिए कोई नीति नहीं बनायी। 1927 का ऐक्ट बड़ी सीमा तक चल रहा है। हमने सिर्फ दो चीज की – 1952 में एक बार वन नीति घोषित की। 1988 में दूसरी बार वन योजना घोषित की। एक बार हमने एक छोटा सा परिवर्तन किया जिसको फॉरेस्ट कंजरवेशन ऐक्ट 1980 कहा गया। जिसकी एक लाइन बहुत मशहूर है कि 'नो फॉरेस्ट लैंड विल बी यूज्ड फॉर नॉन-फॉरेस्ट पर्पजेज,' बस।

जब 1972-73 में चिपको आंदोलन हो रहा था, उसी समय हिंदुस्तान में कॉर्पोरेशन्स के बनने की प्रक्रिया शुरू हो रही थी। क्योंकि आप बाहर का फंड बिना कॉर्पोरेशन बनाये नहीं ले सकते थे। तो

बहुत सारे कॉर्पोरेशन बने, दिल्ली में पहाड़ कॉर्पोरेशन से लेकर एनएचपीसी तक आप देखते हैं। हमारे यहां जैसे पर्वतीय विकास निगम बना, उसके बाद जल निगम बना, उसके बाद कुमाऊ-गढ़वाल विकास मंडल निगम बने। उसके बाद कुछ और निगम बने। इन निगमों में बाहर की फंडिंग शामिल थी और इस फंडिंग के जरिये वो अपने कर्मचारियों को तनख्वाह देते थे। अब भी दे रहे हैं। उत्तर प्रदेश में जितने उत्पाद चल रहे हैं, जिनके वंशजों को हम उत्तराखण्ड में भी झेलने के लिए अभिशप्त हैं। वो सब बड़ी-बड़ी ग्रांट्स थी, जिनसे वो अपनी तनख्वाहें वगैरह चलाते थे, राज-काज भी चलाते थे। गाड़ियां भी इनसे खरीदते थे, मंत्रियों और नौकरशाहों के पूरे काम-काज उससे होते थे। वह आता था जंगल, पानी, सफाई, कृषि विविधता और सर्व शिक्षा के नाम पर, या इससे भी और बहुत सारी चीजें हमें पता नहीं होंगी। यहां पीस वालों के दफ्तर में ऐसे बहुत सारे आंकड़े मिल सकते हैं, जिनमें आप इन विविध योजनाओं का सर्वे कर सकते हैं।

एक ही परिणाम निकला फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन के बनते ही कि चिपको आंदोलन की एक बुनियादी मांग के तहत ठेकेदारी प्रथा बंद कर दी गयी। लेकिन खुद फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन ठेकेदार बन गया। मैं आपको दो आंकड़े देना चाहता हूं जो मेरे ख्याल से आपको कहीं और उपलब्ध नहीं होंगे। जिस समय फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन बना 1975-76 में, उस समय लकड़ी का उत्पादन करीबन 25966 घन मीटर था। 1996-97 में उत्तराखण्ड के वनाधिकार खत्म कर दिये गये, जब हाईकोर्ट में मामला गया। फिर दुबारा हमें सर्वोच्च न्यायालय में जाना पड़ा और वह अधिकार वापस हुए। तो तब तक लकड़ी का उत्पादन बढ़कर 383657 हो गया था। करीबन 4 लाख घनमीटर का उत्पादन बढ़ा। ये इस बात का संकेत था कि फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन जो एक तरीके से सरकारी ठेकेदार बन गया था उसका वर्चस्व किस तरीके से बढ़ा और उसकी प्रति वर्ष कितनी आय थी। इसको भी आप देख सकते हैं। जिसमें से उसने एक पैसा भी फॉरेस्ट कंजरर्वेशन के नाम पर या प्रकारान्तर में विकास के लिए खर्च नहीं किया। हालांकि वो सरकार के गोदाम में ही जाता था। 1974 से 75 के बीच फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन ने जो लाभ कमाया वह तकरीबन 53,11000 के करीब था। उसके बाद हमें जो

1995-96 का जो अंतिम आंकड़ा मिला था, उसमें इसका लाभ 76 करोड़ के करीब पहुंच गया था यानी कि 53 लाख से 76 करोड़ पहुंच गया था। इससे आप यह समझ सकते हैं कि फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन का विस्तार किस तरीके से हुआ, उसके ऑपरेशन के क्षेत्र किस तरीके से बढ़े और उसकी जो कुल आय थी वह कितनी ज्यादा थी। जो उसके एजेंडे में शुरू में था कि जंगलों के व्यवसाय और व्यापार के अलावा लोगों के लिए लकड़ी मुहैया कराना, मकान के लिए लकड़ी मुहैया कराना, मुर्दाघाट में लकड़ी उपलब्ध कराना, फॉरेस्ट कंजरवेशन में लगाना, प्लांटेशन में लगाना, पौधे उपलब्ध कराना – ये कोई भी एजेंडा आज तक यानी उत्तराखण्ड राज्य बन जाने के बाद भी लागू नहीं हुआ।

आज ठेकेदारी प्रथा प्रकारांतर में खत्म हो गयी है, लेकिन अब ठेकेदार फॉरेस्ट कॉर्पोरेशन का ठेका लेते हैं। जिसकी आपको जानकारी भी नहीं होती। जिस गौरादेवी ने जंगल को बचाने के लिए उतनी बड़ी लड़ाई लड़ी, जो इतिहास में बहुत याद की जाएगी। उसी गांव के ठेकेदार से ठेका लेकर चिपको आंदोलन की सफलता के 19वें-20वें साल रैणी के जंगल का एक हिस्सा काटने में वे लोग सफल हुए। क्योंकि अब आपके सामने देहरादून का या तथाकथित बाहर का कोई ठेकेदार नहीं था, बल्कि आपके परिवार का ही, रैणी का ही एक जो शौका परिवार का जो भोटिया था उसको ठेका दे दिया गया और आपकी लड़ाई कुंद हो गयी, क्योंकि आपकी लड़ाई में शायद इस तरह का ताप नहीं था कि अपने गांव के, अपने परिवार के और अपने समुदाय के खलनायक के साथ आप लड़ सकें इस तरह अभी भी एक तरीके से वह परिस्थिति चली हुई है।

अभी का परिदृश्य क्या है? जलागम के नाम पर जो परियोजनाएं आ रही हैं, जिनका बाहरी ताम-झाम बहुत अच्छा लगता है लेकिन इसके भीतर जबरदस्त किस्म की अनियमितता है और दूसरा ज्वाइन्ट फॉरेस्ट मैनेजमेंट (जे.एफ.एम.) के नाम पर जो स्कीम आ रही है वह जबरदस्त तरीके से खतरनाक है। अनेक बार लोगों को यह भ्रम होता है कि बंगाल में जो जे.एफ.एम. लागू किया गया वही उत्तराखण्ड में लागू किया गया। हम लोगों को आगाह करते हैं कि बंगाल का

जे.एफ.एम. किसी विश्व बैंक की फंडिंग के तहत नहीं हुआ था। वहां के कुछ संगठनों, समुदायों और वन के अच्छे अफसरों की वजह से वह जे.एफ.एम. हुआ था। ऐसी जगह पर हुआ था जहां पर वन पर स्वामित्व सरकार का था और वो जे.एफ.एम. करने का मतलब यह था कि आप फिफटी-फिफटी में ला रहे हो।

हमारे जैसे इलाके में जहां लोग वन पंचायतें चला रहे हैं आज के दिन 7777 वन पंचायतें बन गयी हैं। हालांकि जे.एफ.एम. के लिए जबरन भी बनाई गयी हैं। हो सकता है कि इस बीच और कुछ बन गयी हों। इतनी वन पंचायतों के होते हुए भी आपने विश्व बैंक के कहने पर हमारे लोगों को फंसने के लिए विवश किया है। पहले लोग अपने लिए वन पंचायतों में जंगलों को बचाते थे। उसमें कहीं भी आर्थिक स्वार्थ नहीं आता था। वन पंचायत का जो सरपंच होता था, उसकी एक वनचबद्धता होती थी कि अगर जंगल नहीं रहेंगे तो खेती, जानवर और, कुटीर उद्योग नहीं रहेंगे। जंगल नहीं रहेंगे तो न तो गीत रहेंगे और न ही न्योली ही रहेगी। इसलिए वह जानते थे कि जंगलों का जाना सर्वनाश की तरह है। अभी की स्थिति यह बनी हुई है कि उ.प्र. सरकार के दौर से जो स्कीमें आ रही हैं वह हमारे यहां हू-ब-हू चली हुई हैं। जो उत्तरांचल सरकार ने आते ही वन पंचायतों की नयी नियमावली लाकर एक अनिष्ट का काम किया। इस नियमावली को आप पढ़े और जे.एफ.एम. को आप पढ़े तो इसकी भाषा हू-ब-हू एक सी है। यानी कि उत्तर प्रदेश के वन पंचायत एक्ट में आपने उत्तर प्रदेश मिटाकर उसमें उत्तरांचल भर के नया एक्ट वहां प्रस्तुत कर दिया। इसी तरीके से वन पंचायत का 1925-26 में विकसित, 1931 में विधानसभा से पारित जो वन पंचायत नियमावली थी जिस पर हमारे यहां 1972 और 76 में संशोधन हुए थे तो उसको ज्यादा अच्छा कैसे बनाया जाय, उसको डी.एम. के चंगुल से कैसे निकाला जाय। उसको पूरा का पूरा बदलकर जे.एफ.एम. शब्दावली में डाल दिया। उसका जबरदस्त विरोध हुआ। अब वो हटने के लिए मजबूर हैं लेकिन अभी भी कोई वैकल्पिक नीति उसमें नहीं आयी तो जंगल में भी हम लोग कितने हिस्सेदार रह जायेंगे यह देखने की बात है।

आज हमारे यहां मुर्दा जलाने के लिए लकड़ी की समस्या है। हमारा अध्ययन है कि आज भी गैस और मिट्टी का तेल आने के बावजूद लगभग 90–92 प्रतिशत समाज आज भी बायोमास आधारित ईंधन के लिए मजबूर है। आपको सिरकंडे जलाते हुए लोग दिखाई देंगे। गैस में आर्थिक सहायता की मनाही कर दी गई है। पहाड़ में जो पारिस्थितिकीय संरक्षण होता है उसके एवज में उसको एक तरीके से मदद दी जानी चाहिए। और आज हमें ढाई सौ रुपये का सिलेंडर गांव में खरीदना पड़ता है। जब कुली उसको लाता और ले जाता है तो वो 300 का बैट जाता है। उसकी उपलब्धि की भी गारंटी नहीं है। तो 90 प्रतिशत समाज हमारा जंगल पर और उसकी जो वनस्पतियां हैं उन पर निर्भर है। इसलिए जंगल पर इसका दबाव है। इसको अगर घटाना है तो इसका भी विकल्प देना है। इस तरह के जितने भी कार्यक्रम आ रहे हैं उनमें भविष्य के लिए ईंधन किस तरीके से रखें, चारा किस तरीके से मुहैया करायें और वैकल्पिक ऊर्जा, हाइड्रोइलेक्ट्रीसिटी से लेकर सौर ऊर्जा तक किस तरीके से लायें, ये नहीं है। टिहरी बांध के पीछे पूरा देश पड़ा हुआ है। आज टिहरी में इतना पानी बनने के बाद कोई बिजली नहीं बन रही। पिछले 20 साल से हम इस झूठ को झेल रहे हैं कि टिहरी बांध 2400 मेगावाट बिजली बनायेगा। लेकिन पीयूसीएल के अध्यक्ष राजेन्द्र धस्माना जी यहां बैठे हैं उनसे पूछिए कि पहला जनरेटर अगर शुरू हो गया यहां तो वह मात्र 500 से 700 मेगावाट बिजली पैदा कर पाएगा।

तीसरा बड़ा संसाधन है, जो फिर जमीन पर है। वो है पानी। रियो डि जेनरो में विकास का एक बड़ा प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था उसमें पर्वतों का एक अलग विभाग था, एजेण्डा 21 या 22, उसमें बड़ी जबरदस्त शब्दावली इंगित की गई है। कभी-कभी ये भी लगता है कि ये बहु राष्ट्र की शब्दावली तो नहीं है। उसमें कहा गया है कि आधुनिक सभ्यता के लिए हिमालय एक पानी का मीनार है। हमारे पास पानी बहुत अधिक मात्रा में है। यदि आप उसके आंकड़े देखेंगे तो आश्चर्य होगा कि उत्तराखण्ड की नदियों का समग्र जल 24.24 मिलियन क्यूबिक मीटर प्रति सेकेंड से बहता है। अर्थात् उत्तराखण्ड में एक सेकेंड में जो पानी बहता है वह 24.24 क्यूबिक मीटर है।

अगर दक्षिण भारत की समग्र नदियों का आप जोड़ निकालेंगे तो वो तकरीबन 6-7 मिलियन क्यूबिक होता है। क्योंकि हमारे यहां बर्फ, वर्षा के कारण और उसके बाद कैचमेंट से और ग्लेशियर को छोड़कर जो प्राकृतिक पानी आता है वह इतना ज्यादा है कि पानी अथाह है। ये पूरे देश की अमानत है। पूरे देश के लोगों तक उसके जाने की, पीने-सिंचाई आदि की समस्या का हल इसके साथ जुड़ा हुआ है।

लेकिन हम उसको कुछ लोगों या कुछ शहरों के लिए इस्तेमाल करने की योजना बनाकर एक बहुत बड़े प्राकृतिक संसाधन को एक तरह से लग्जरी या कंजम्पशन वाली शब्दावली में ले आये है। और एक प्राकृतिक संसाधन को हमने जिंस बना दिया है खरीद-फरोख्त की चीज बना दिया है। अभी जब मैं सवेरे यहां पर पहुंचा तो राजेन्द्र सिंह यहां पर थे, उनसे हमारी बात हो रही थी, तो हम लोग बतियाते हुए कह रहे थे कि अभी जो पानी दूध के भाव बिक रहा है। एक लीटर दूध 12 से 15 रुपये में आ जाता है इसके अलावा एक लीटर से कम पानी भी 12 से 15 रुपये में आता है। और कुछ समय बाद वो घी के भाव भी बिक सकता है। पानी को लेकर बहुराष्ट्रीय स्तर पर बहुत बड़ी लड़ाई है।

महानगरों के लोग कोका-कोला और पेप्सी को पीने के लिए अभिशप्त हैं क्योंकि न तो हमारे पास शर्बत का कल्चर है और न ही घड़े में नीम-नीबू तथा मसाले डालकर पीने वाला कोई पेय ही रह गया है। उस कम्पनी ने अपने पेयों को कम बिकता हुआ देखकर अब पानी दबोच लिया है। क्योंकि उनका पानी 12-15 रुपये में चला जाता है। उस पानी में अच्छी मशीनों की मदद से मलवा-मिट्टी कम होती है और जीवाणु भी कम ही दिखाई देते हैं लेकिन उसका वो उत्पाद सबसे ज्यादा बिकता रहता है। आज किसी भी कंपनी को देख लो वो पानी जरूर बेच रही है। पानी बेचने के लिए आम दुकानदार भी बड़ा उत्सुक है, क्योंकि जितना पैसा उसे पानी बेचने में मिलता है उतना किसी और चीज में नहीं मिलता है। इससे आप सोच ही सकते हैं कि आने वाले समय में पानी ही कितना कीमती हो सकता है।

उत्तराखण्ड की नदियों में 40 हजार मेगावाट बिजली पैदा करने की क्षमता है। लेकिन उसके लिए कहीं भी टिहरी जैसे बांध की अपरिहार्यता नहीं आती। यहां हमसे कोई भी विज्ञान इस तरह की बहस नहीं कर सकता है कि हम केवल टिहरी बांध से ही बिजली दे सकते हैं। आप ये देखिए कि हमारी टौन्स और जमुना नदी में पिछले 40 साल से हिमाचल और उत्तरांचल की 'रन ऑफ द रिवर स्कीम' चल रही है। पहले यह हिमाचल और उत्तर प्रदेश की थी अब हिमाचल और हमारी है। उसमें आपने किसी भी घपले के बारे में नहीं सुना होगा। बिजली आराम से बन रही है। खुद भारत सरकार की जो एन.एच.पी.सी. है, टनकपुर से लेकर बनबसा और कैलाश मानसरोवर मार्ग पर धारचूला और उससे आगे तक माइक्रोहाइड्रिल, मिनी हाइड्रिल बना रही है। बखूबी चल रहे हैं। ऐसे में आपको ये सलाह किसने दी कि आप एक बेहतरीन समाज को डुबोकर और उस समाज को बाहर जाने के लिए विवश कर वहां टिहरी बांध बनाओ। फिर आप पंचेश्वर की तरफ जाएंगे और इस संकट में नेपाल को भी खींच लेंगे। तो हमारे यहां 'रन ऑफ द रिवर की' गुंजाइश है। उसी तरह माइक्रो और मिनीहाइड्रिल की बड़ी गुंजाइश है। नैनीताल जैसे नगर में पिछले करीबन 80 साल में सिर्फ एक माइक्रोहाइड्रिल से बिजली सप्लाई होती रही, नैनीताल की झील से निकलने वाले पानी से 10 किलोवाट बिजली बनती है और निरंतर चलती थी कभी वो बिजली नहीं गई। आज हम नेशनल ग्रिड में हैं तो आये दिन बिजली चली जाती है। और यहां तो सुना कि राजधानी में भी बिजली आये दिन चली जाती है। बिजली आये, तो फिर पानी चला जाता है। गनीमत है कि यहां पर बिजली से चलने वाली कोई अन्य चीज नहीं है, नहीं तो रेलें भी बंद हो जाती।

ऐसे में हमारे यहां पानी की व्यवस्था किस तरीके से हो। पीने का पानी सबसे प्राथमिक है। पीने के पानी के बाद सिंचाई आती है। जानवरों के लिए पीने का पानी आता है और उसके बाद फिर पानी का अगला प्रयोग आता है कि उसका व्यवसाय करो, उसके बांध बनाओ। आप चाहकर भी गंगा, जमुना और काली नदी के पानी को वहां नहीं रोक सकते हैं। पानी नीचे आने को विवश है।

नीचे आएगा। पानी पर उत्तराखण्ड की कोई उस तरह की बपौती नहीं है। लेकिन यहां जन्म लेने वाली नदियों पर उसका प्रारंभिक वर्चस्व है। ट्रांस प्रोवेन्शियल नदियां हैं। हमारे पास या ट्रांस नेशनल नदियां है। इसलिए हमारे उत्तर भारत की जितनी भी नदियां है उसमें चीन का, नेपाल का, भूटान का, हमारा पकिस्तान और बांग्लादेश का साझा हिस्सा है, वो हमारी साझी विरासत है। उत्तराखण्ड के संदर्भ में बात करें तो हमारी कोई भी नदी तिब्बत से नहीं निकलती है ये भी एक बड़ा संयोग है। हिमाचल की नदियां तिब्बत से आ रही है। कश्मीर की नदियां तिब्बत से आ रही हैं। उधर आप नेपाल की और सिक्किम और नार्थ ईस्ट की नदियां देखिए इन्क्लूडिंग ब्रह्मपुत्र सब तिब्बत से आ रही है। उत्तराखण्ड का भूगोल एक इस तरह का है जिसमें उत्तर की तरफ आपका कंडाली का जलागम है, सतलुज का जलागम है, उससे नीचे फिर हमारे यहां जमुना टोंस, गंगा, भागीरथी, अलकनंदा और इस तरफ काली, गोरी, सरयू का जलागम है। वहां जब नदियां ग्लेशियरों से आगे को आती है तो हमारे भाभर-तराई से होते हुए गंगा यमुना के मैदानों को जाती हैं। फिर बिहार को जाती हैं।

कोई भी अच्छी चीज उत्तराखण्ड या हिमालय में होती है तो उसके सुपरिणाम उत्तर प्रदेश, बिहार और उसके बाद बंगाल और बांग्लादेश तक जाते हैं। अगर हम जंगलों के कटान से लेकर या ऐसा कोई अन्य घपला करते हैं, तो उसकी विपदा नीचे को जाती है। पहाड़ों में नदियां उथली कभी नहीं होती है। उथली नीचे को होती है। जहां नदियां उर्वरता बांधती थी, मिट्टी बांधती थी। वहां ये मलवा ले जाती है, बाढ़ ले जाती है। बाढ़ पहले भी आती थी। हो सकता है बाढ़ के आने का कुछ प्राकृतिक कारण भी हो, लेकिन आज बाढ़ जिस तरह की विभीषिका बन गई है, उसमें मानव निर्मित तत्व बहुत ज्यादा हैं।

ये कलेक्टिविटी एक तरह से ट्रांसनेशनल, ट्रांस-रिजनल लेवल पर है। इसको हम किस तरह से समझें। क्योंकि कोई भी नदी उत्तराखण्ड में या हिमालय के किसी भी हिस्से में पश्चिम से पूर्व की ओर बहुत ही कम बहती है। ज्यादातर नदियां उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हैं एक दो

उदाहरण आपको मिल सकते हैं। एक सिंध का मिल सकता है जिसमें नदी लगभग पूरब से पश्चिम को बहती है और तिब्बत से लद्दाख आती है, लद्दाख से पाकिस्तान को चली जाती है तब जाकर नीचे को आती है। आमतौर से शेष नदियां दक्षिण-पूर्व या दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं। शुरू-शुरू में उनका मिजाज उत्तर-दक्षिण रहता है। तो उसमें जो क्षेत्रीय विभिन्नता है, बांध के ढाल (साइड्स) हैं, छोटे बांधों के ढाल (साइट्स) हैं, हमारे सामने ये सवाल हैं कि जनसंख्या कहां बसी हुई है और खेतिहर जमीन कहां है।

जैसा कि मैंने कहा सबसे बुनियादी बात ये है कि आप लगभग 15 हजार गांवों में फैले उत्तराखण्ड के समाज को पीने का पानी देने की स्थिति में हो कि नहीं ? उत्तराखण्ड आंदोलन के दौर में एक बड़ा मशहूर गीत आया था— 'नदी पास-पास है, मगर ये पानी दूर-दूर क्यों?' और ये उस समस्या को हमारे सामने रखता है कि बगल में अलकनंदा बह रही, बगल में दूसरी नदी बह रही है उसका पानी आपको पीने के लिए या सिंचाई के लिए उपलब्ध नहीं है। बड़ी नदियों के साथ ये समस्या रही। काली के साथ ये समस्या है। अलकनंदा और भागीरथी के साथ ये समस्या है और उधर टोंस के साथ ये समस्या है।

जो हमारी छोटी नदियां हैं, जो बर्फ से नहीं पैदा होती है। उन्होंने बहुत निरर्थक फर्टाइल घाटियां हमें दी है। और वहां लोगों ने पानी का अपना मैनेजमेंट किया है। अंग्रेजों के आने से पहले भी उन्होंने अपने सिंचाई के तरीके बनाए। गूल का पैटर्न बनाया है। हमारे यहां ऐसी शहादत के उदाहरण हैं जब श्रीनगर के बहुत करीब हमारे एक सेनापति ने एक टनल बनाया। जो आज भी मलेथा की कूल कहलाती है और उसी से सिंचाई होती है। पानी के स्वदेशी पद्धति की जब बात आती है उसकी बहुत चर्चा होती है। अनिल अग्रवाल ने भी उसकी चर्चा की है। और इसी तरीके से उच्च हिमालय के मिलम जैसे इलाके में, मलाली जैसे गांव में जो 6 महीने बर्फ से ढक जाते हैं वहां उन्होंने 6 महीने रहने की स्थिति में पानी के प्रबंधन की पूरी व्यवस्था की। सिल्ट आती है ग्लेशियर से निकलते हुए नदी में तो आप पीने का पानी वहां से लाएंगे उसको ट्रेस करके।

उसको किसी तरह से ला करके अपने पानी की व्यवस्था करते थे। तो इन्डीनिजस नॉलेज भी हमारे यहां इस तरीके की रही है।

फिर हमारे यहां राज्य नीतियां पानी पर हावी हो गयी। 1917 में पहली बार अंग्रेजों ने वाटर एक्ट बनाया। 'वाटर रूल्स ऑफ कुमाऊं-1917'। उसमें पहली बार एक तरह से लोगों से पानी का अधिकार लेने का प्रयास किया गया। लेकिन घोषित रूप से ऐसा नहीं था कि पानी पर लोगों का अधिकार नहीं है। यानी किसी के खेत में अगर पानी होगा, आंगन में अगर पानी होगा तो उस पर उसका अधिकार होगा इस तरीके का माना गया। किसी गांव के सामने से नदी निकल रही है तो उस नदी से सिंचाई का अधिकार होगा। साथ में मुर्दा फूंकने का अधिकार होगा। उसके बाद अंग्रेजों ने पहली बार 1930 में कुमाऊं वाटर रूल्स बनाये। उस समय तक स्वतंत्रता संग्राम भी आगे बढ़ गया था। पानी एजेंडे में नहीं था, लेकिन लोगों को पता था कि पानी अगर सरकार के नियंत्रण में रहेगा तो समाज कमजोर हो जाएंगी। और उनके लिए दिक्कतें हो जाएंगी। उस समय हमारे यहां जितने भी प्रतिनिधि थे उन्होंने विरोध किया। उन्होंने कहा कि जो हमारे हक-हकूक हैं, पानी पर अधिकार हैं इसलिए उन पर खलल नहीं पड़ना चाहिए। चूंकि जंगल की लड़ाई आप जीत चुके थे तो अंग्रेजों ने फिर पानी पर ज्यादा जोखिम करने का दुस्साहस नहीं किया। उसके बाद 1940 में कुमाऊं लॉज बनने शुरू हुए। जिसमें वो बहुत सारे प्राकृतिक संसाधनों को राज्य के नियंत्रण में लेना चाहते थे। लोगों की भागीदारी भी उसमें एक कोने में सुनिश्चित करना चाहते थे। वह द्वितीय विश्व युद्ध के कारण, 1942 के आंदोलन आदि के कारण स्थगित हो गया। फिर हम आजाद हो गये। और आजाद होने के कारण हमें फुरसत ही नहीं रही कि हम अपने प्राकृतिक संसाधनों को एक आजाद देश, एक नवजात स्वतंत्र देश के परिप्रेक्ष्य में, क्षेत्रीय आधार पर राष्ट्रीय सपने के साथ जोड़ते हुए देखें। इसलिए हम जल नीति नहीं बना पाये। आपने प्रधानमंत्री का भाषण सुना होगा। जिसमें कहा गया कि पानी की सबसे बड़ी संरक्षक जनता है। लेकिन उन्होंने उस समय जो वाटर पॉलिसी लागू की, वह पूरी की पूरी जन विरोधी थी उसमें निजीकरण की

बात की गई है। उसमें इस प्राकृतिक संसाधन को एक कमोडिटी बनाने की एक तरह से घोषणा की गई है।

अधिकारिक रूप से अभी तक उत्तराखण्ड की कोई आधिकारिक नीति नहीं आयी। लेकिन यदि हमारी पानी की नीति रामगंगा के लिए बनाई गई जल नीति की तरह हो कि हम टिहरी बांध जैसा एक बहुत बड़ा बांध बनाएंगे तो ऐसे मौके पर हमारी जनता की तरफ से सोच आनी चाहिए कि हमारे पानी को लेकर किस तरह का विचार है। क्योंकि अगर पानी पर भी सरकारी अधिकार आ जाएगा तो हम लोगों के लिए बड़ी मुसीबत हो जाएगी। आपमें से अधिकांश लोग इस बात से परिचित होंगे कि 1975 में जब कुमाऊं जलसंस्थान बना, कुमाऊं जलनिगम बना तो आप जनता कितनी मुसीबत में आ गई थी। उसमें स्पष्ट है कि आपके गोठ में, आपके आंगन में भी अगर पानी जन्म ले रहा है तो कुमाऊं जल निगम उसको वहां से कहीं भी ले जा सकता है। एस.डी.एम के घर, पी.डब्ल्यू.डी. के डाक बंगले तक उस पानी को ले जा सकता है। ये 1975 का जल निगम का एक्ट कह रहा है।

नये राज्य में इसकी जरूरत थी कि आप साफ—साफ परिभाषित करें कि आपके गांव में, आपके कॉमन्स में बल्कि आपके संरक्षित जंगल में भी कोई पानी है तो उसमें पहला हक आपके ग्रामीण समुदाय का है। उस हक के बाद बगल के गांव का है। फिर नदी नीचे को जा रही है, जैसे रामगंगा का उदाहरण लीजिए जहां दूधातोली से रामगंगा पैदा होती है वहां से लेकर जिमकार्बेट पार्क में बड़े जलाशय तक एक बहुत बड़ा समाज उस पर निर्भर है। कोई पशुचारक, कोई खेतिहर और कोई नौकरीपेशा के रूप में। उसके बाद नीचे आते हैं तो कोई मछुवारे के रूप में है। जब गंगा—यमुना के मैदान में आते तो उसमें तरबूज—खरबूज वाले भी हैं। उसमें टोकरी बनाने वाले भी हैं। उसमें मल्लाह भी हैं यानी कि इतने लोगों की निर्भरता एक नदी पर पड़ जाती है। एक नदी से एक मनुष्य के, समाज के, उसके अलग—अलग सेक्शन, सेक्टर्स के अंतर्संबंध किस तरह से हैं इसको समझने की जरूरत है।

हमारे यहां रामगंगा में जुलाई के बाद मछलियों में प्रजनन की प्रक्रिया शुरू होती है तो वहां आज भी मछली उत्सव मनाया जाता है। बाद में उसमें डायनामाइटिंग न करने की आजादी मिली। हालांकि अब उसमें बहुत जगह अवरोध आने लगे हैं। आप सावन में जानवरों की हत्या नहीं करेंगे। पेड़ों में रक्षा बांधने की जो इंडीजिनस ट्रेडीशन थी, वो शायद इसीलिए थी कि शायद इस बहाने ही सही चीजों की हिफाजत हो जाएगी।

आज उत्तराखण्ड में जितनी बोटलिंग प्लांट चल रहे हैं। उनका पानी पूरे देश में 10 से लेकर 15 रुपये में बिक रहा है। कभी-कभी वो पानी रेल में भी दिखता है। वहां उत्तराखण्ड के समाज को किसी तरीके का टैक्स नहीं देते हैं और न ही सरकार को देते हैं। कहीं से लाइसेंस ले लिया और बोटलिंग करके वो ले जाते हैं। तो पानी की व्यवस्था को हमारे समाज की जरूरतों के अनुसार विकसित किया जाना चाहिए। इसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए वरना यह भारत सरकार की वाटर पॉलिसी की तरह की बन जाएगी।

हमारे अंतिम संसाधन वन्यता है जिसे अंग्रेजी में वाइल्डरनेस कहते हैं। हम इसे कभी भी संसाधन के रूप में नहीं लेते हैं। वन्यता हर जगह की होती है। समन्दर के इलाके की अपनी वन्यता होती है। निर्जन की अपनी वन्यता होती है। हिमालय की अपनी वन्यता है। उसमें प्लानिंग कमिशन, सरकार और हम-आप कुछ नहीं कर सकते। जो प्रकृति ने हमें दे दिया, वही वन्यता है। इस शताब्दी में यह हमारा सबसे बड़ा संसाधन होने जा रहा है। क्योंकि दिल्ली जैसे महानगर में जनसंख्या की सघनता से घबराए हुए आप जैसे लोगों को भी पहाड़ों में आकर मुक्ति चाहिए। यूरोप में नगरों के सताए हुए जितने भी लोग हैं वो सभी वन्यता की खोज में निकल रहे हैं। आल्प्स में बहुत ज्यादा जगह नहीं है क्योंकि आल्प्स एक तरीके से बहुराष्ट्रीय किस्म का पहाड़ है। इसके छोटे-छोटे हिस्से अलग-अलग देश में आते हैं।

हिमालय भी बहुराष्ट्रीय है क्योंकि उसमें नेपाल भी है, उसमें पाकिस्तान, अफगानिस्तान, तिब्बत, भूटान भी है और उसमें हम भी हैं। लेकिन हमारे हिस्से बहुत बड़ा हिमालय आया है। इस हिमालय में अभी सौन्दर्य बड़ी सीमा तक बचा हुआ है। इस प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच में जो मनुष्य का बनाया हुआ है, वो भी बहुत कुछ है। हमारे अमरानाथ, बद्री-केदार, गंगोत्री-यमनौत्री, कैलाश मानसरोवर आदि जितने भी तीर्थ हैं उसके बाद नेपाल में परशुराम कुंड तथा इसी प्रकार अरुणाचल के जितने भी तीर्थ हैं उन सभी का चयन हमारे पूर्वजों ने आंतरिक हिमालय में किया। आप इन सीनों पर तीन-चार महीने तक घूमने के लिए जा सकते हैं। इस प्रकार से उच्च हिमालय की प्रकृति में जो भी संस्कृति है उस सबसे अमूल्य वन्यता बनती है। यहां की सुंदरता को देखने के लिए कई लोग दूर-दूर के क्षेत्रों से भी आते रहते हैं।

ये एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिसके लिए हमारे अर्थशास्त्री यहां तक कि हमारे योजनाकार भी नहीं जानते हैं। बद्रीनाथ के होने से ही यहां 9 लाख लोग आ रहे हैं। यदि आप इन 9 लाख में से 1 लाख लोगों को भी माल्टे का रस पिला सकें तो ये पेप्सी और कोका-कोला के लिए सबसे बड़ी चुनौती हो सकती है। अगर कैलाश मानसरोवर में 600 लोग जा रहे हैं तो 600 व्यापारी भी जा रहे हैं। अगर आप हमारे यहां मिलने वाले काले चूख जो कि विटामिन सी देने वाला है उसका शर्बत लोगों तक पहुंच जाए तो आप अपने उत्पादों की बिक्री के लिए रास्ता खोल सकते हैं। यदि केदारनाथ जाने वाले पांच लाख लोगों में से एक लाख लोग भी लाठी ले रहे हैं तो आपकी लाठियां काम आ सकती हैं। आप ये भी कह सकते हैं कि वापसी में पांच रुपया किराया देकर लाठी वापस दे जाना ताकि आपका बांस भी न उजड़े।

आपको हमारे इलाके में जबरदस्त विविधता मिलेगी। हिन्दुओं के कई स्थानीय देवताओं के साथ शिव आदि देवता हैं तो विष्णु भी हैं और कई देवियां भी हैं। उनके अलग-अलग स्थान पर रहने के पीछे अलग-अलग मान्यता है अर्थात् जब महासू आता है तो शिव बहुत पीछे रह जाता है। शिव उधर गया ही नहीं। शिवजी ने तय किया कि मैं केदारनाथ में ही रहूंगा। मैं टोंस और जमुना

की घाटी में नहीं जाऊंगा, वहां महासू है ही। ये अलग बात है कि बाद में हमारे ब्राह्मणों या लोगों की परंपारिक सोच ने महासू को महाशिव के साथ जोड़ दिया। वो उनका पशुचारों का देवता था और वो लड़ा, योद्धा था हमारे गोरिल्ले की तरह लड़ते हुए कहीं मारा गया था। और उसको अभी भी घायल कर टोंस की घाटी में कहीं स्थापित किया गया है। उसके तीन भाई है जिनमें से दो और घायल हैं और दूसरी जगह स्थापित है। उनमें से एक को चलान्डा कहा और उसको कहा कि तू हिमाचल में भी जाना यहां भी जाना, और आज वो दोनों प्रांतों में जाता है। अर्थात् हमारे यहां गतिशील भगवान होते हैं।

हमारे यहां मौजूद सांस्कृतिक विभिन्नता भी बहुत सारे लोगों के लिए कौतूहल का विषय हो सकती है। अभी रक्षा बंधन के दिन एक देवी धूरा में एक मेला हुआ था उसमें लगभग सभी टेलिविजन चैनलों के पत्रकार पहुंचे और उन्होंने अपने चैनलों में यह दिखाया कि आज भी वहां पत्थरों की वर्षा होती है। ये सांस्कृतिक विभिन्नता और प्राकृतिक विभिन्नता वन्यता जैसे अन्य तत्वों को बनाती है। जो कि एक संसाधन हो सकते हैं। उसके अंदर इको-टूरिज्म से लेकर इस तरह के बहुत सारे अभियान चल सकते हैं।

पिछले 25 साल में कुछ नहीं हो पाया। दो साल पहले हम लोगों ने कोसी में एक मेला देखा था। सुनने में आया था कि इसके लिए 11 हजार करोड़ का कोई पैकेज आने वाला था जबकि अभी तक उसमें से एक करोड़ भी पहाड़ की तरफ नहीं आया। तो ऐसे मौके पर हमें अपने वैकल्पिक साधनों के बारे में सोचना होगा क्योंकि सरकार आपको रोजगार नहीं देने जा रही है। बहुराष्ट्रीय नौकरी घटाने वाले तत्व हैं। कम्प्यूटर के बारे में अब ये अफवाह सच सिद्ध हुई कि वो नौकरी नहीं बढ़ाते हैं, बल्कि घटाते हैं। क्योंकि जिस तरीके की तकनीक इस्तेमाल होती है उसमें कुछ लोगों को बड़ी नौकरी देंगे, बाकी लोगों को वो नौकरीहीन कर देंगे। ऐसे में आपकी नौकरियां कहां से आयेंगी? आपकी नौकरियां आपके संसाधनों से आयेंगी। चाहे ईको-टूरिज्म के रूप में आयें, चाहे लैंड यूज बदलकर फलों में आयें, फूलों में आयें, आप जब तक आधुनिक कृषि को प्रयोग नहीं

करेंगे तब तक आपके पास नौकरी नहीं आएगी। हमारे समाज में भी ये सपना है कि हम नौकरी के लिए पैदा हुए हैं और उसमें भी हम सरकारी नौकरी के लिए पैदा हुए हैं – लेकिन यदि हमारी इस सोच में परिवर्तन आ जाए तो कुछ रास्ता मिल सकता है। आप अपनी वन्यता अपने संसाधनों के आधार पर ही अगली सदी में अपनी आत्मनिर्भरता को खोज सकते हैं। इसलिए वन्यता उत्तराखण्ड की एक बहुत बड़ी सम्पत्ति होने जा रही है।

सबसे अन्त में मैं मनुष्य पर आता हूँ। लेकिन मनुष्य को हम कितना प्राकृतिक संसाधन मानें और कितना संसाधनों को नष्ट करने वाला मानें। उत्तराखण्ड देश का अकेला ऐसा समाज है जो पलायन के लिए सबसे ज्यादा अभिशप्त रहा। सबसे पढ़ा-लिखा समाज तो केरल में है और केरल से भी पलायन होता रहता है। लेकिन यदि मैं, 2001 का आंकड़ा प्रस्तुत करूँ तो 85 लाख लोग उत्तराखण्ड में रहते हैं, तो करीबन तीस लाख से ज्यादा (हो सकता है कि पैतीस लाख से भी ज्यादा हों) उत्तराखण्ड की मूल के लोग उत्तराखण्ड से बाहर रहने को अभिशप्त हैं। दिल्ली में करीब दस लाख से ज्यादा होंगे। बम्बई में भी यह माना जाता है कि दस-बारह के करीब होंगे। तीन लाख के करीब लोग फौज में है। इसके अलावा कुछ लोग सेवा निवृत्त होने के बाद भी वहां नहीं आना चाहते।

मनीआर्डर इकोनॉमी शब्दावली उस दौर में शुरू हुई होगी जब लोग वहां मनीआर्डर भेजते थे। इसलिए हमारे एक कार्यकर्ता ने तो यहां तक लिख दिया कि चूंकि उत्तराखण्ड मनीआर्डर इकोनॉमी है, इसलिए उत्तराखण्ड के विकास के लिए हमें खूब पोस्टऑफिस खोलने चाहिए ताकि मनीआर्डर हर जगह पहुंच सके। उनको यह पता नहीं था कि पोस्टऑफिस से क्या होगा। मनीआर्डर भेजने की प्रथा अब खत्म हो चुकी है। मनीआर्डर इकोनॉमी यह बताती है कि एलार्मिंग तरीके से आपके यहां से आउट माइग्रेशन होता है और आज भी 20-25 प्रतिशत होता है। 2001 की जनगणना यह भी बताती है कि हम देश के सबसे बड़े शिक्षित समाज हैं। हमारे यहां 71 प्रतिशत तक पढ़ा-लिखा वर्ग है। हालांकि अभी 29 प्रतिशत हम अनपढ़ हैं, यह शर्म की बात है।

महिलाएं करीब 61-62 प्रतिशत पढ़ी-लिखी हैं। पुरुष करीब 81-82 प्रतिशत में पहुंच गये हैं। औसत लगभग 70-71 है। इतने ज्यादा शिक्षित लोगों में, उसी अनुपात में हमारा पलायन है। क्योंकि जो शिक्षा हमें वहां दी जा रही है वह हमें वहां अपने संसाधनों से – अपनी जमीन से कहीं नहीं जोड़ती है। अभी उत्तराखण्ड में शिक्षा कितनी वरीयता का विषय होना चाहिए यह उनकी समझ में नहीं आया है। शिक्षा कहीं भी सरकार के एजेंडे में नहीं आयी है। तो यदि हम उत्तराखण्ड में मनुष्य को एक संसाधन के रूप में लें तो भी हमारे लिए संकट है। यह ठीक है कि हम लोग पलायन नहीं रोक पायेंगे। एक पिछड़ी इकोनॉमी से एक अच्छी इकोनॉमी की ओर पलायन होगा। दूसरा हम उत्तराखण्ड के ही नहीं बकाया देश के भी हैं। हमारा देश की मुख्यधारा में होना किसी को विपदा लगती है और किसी को मजाक लगता है लेकिन मुझे दोनों ही चीजें लगती हैं।

हमारे पढ़े-लिखे लोगों को उत्तराखण्ड में भी रहना होगा ताकि वहां की राजनीति में, वहां के सामाजिक कर्म में उनकी भागीदारी हो। तभी वहां पर परिवर्तनकारी शक्तियां भी उभर सकती हैं, जो कि अभी नहीं उभर रही है। क्योंकि आप नागनाथ से बच गये तो सांपनाथ के पास आ गये। कोई वैकल्पिक राजनीति हम विकसित नहीं कर सके – इतने आंदोलनों के बावजूद, यह शर्मनाक और चुनौती भरा भी। इतने बड़े जन आंदोलन किसी बेहतरीन राजनीति में क्यों तब्दील नहीं हुए, यह ऐसा सवाल है जिसका उत्तर देना बड़ा मुश्किल है। फिर भी हमारे ऊपर जो आरोप था कि हम साम्प्रदायिक हैं, हमारे समाज ने दूसरे किस्म की सरकार लाकर इस आरोप को धो दिया है। वह भी कितनी अच्छी या बुरी है इसका विश्लेषण करना अभी बाकी है। उत्तराखण्ड के असली मुद्दों को उठाने वाले, पूरे देश और दुनिया के साथ उसे जोड़कर देख रहे हैं। वहां का विकास करने वाली राजनीति अभी बहुत दूर है और क्या वो कभी विकसित हो भी पायेगी या नहीं ये अभी देखने की बात है। इस प्रकार हमारा पलायन बिल्कुल ही भिन्न किस्म का है। वह न तो हिमाचल

का है और न ही जम्मू-कश्मीर का ही है। हिमाचल से इतना कम हो गया है कि आपको मोहन सिंह पैलेस में कोई हिमाचली लड़का बड़ी ही दुर्बलता से मिलेगा।

हमारे लिए यह सकारात्मक बिंदु है कि हम देश के मुख्य प्रवाह में हैं और अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इसलिए हमारी स्थानीय भूमिका, क्षेत्रीय भूमिका के अलावा एक राष्ट्रीय भूमिका भी है और तीसरी तरफ अगर उत्तराखण्ड में कुछ लोगों को रोकना है, नई राजनीति विकसित करनी है तो – हालांकि अभी वो मेरे बोलने का एजेंडा नहीं है, लेकिन चूंकि मनुष्य को भी हम एक संसाधन के रूप में गिन रहे हैं तो जब तक जन राजनीति हमारे यहां विकसित नहीं होगी और इनका समन्वय नहीं किया जाएगा, बहुत मुश्किल होगा कि हम विकास का कोई वैकल्पिक मार्ग ढूंढ सकें। संसाधनों के इस्तेमाल का वैकल्पिक मार्ग ढूंढ सकें। यहां तक कि ठीक तरीके से समझ सकें कि उन पर किन-किन की नजरें गड़ी हुई हैं और किन-किन से हमें बचाना है। अनेक बार जब आपकी सरकार की ही नजर जनता के संसाधनों पर गड़ी हुई हो तो लड़ाई कितनी कठिन हो सकती है, यह आप सोच सकते हैं।

हिमालय में दो ही प्रांत बचे हैं जहां शांति बनी हुई है जिसमें एक हिमाचल तथा अन्य हमारा राज्य है। हिमाचल की शांति का राज यह नहीं है कि वहां विकास हो गया है। वहां के सेब को उन्होंने ऐसा बना दिया है कि सरकार के लिए कितना ही घाटा हो, पैदावार करने वाले के लिए वह घाटा न बने। बावजूद इसके कि वहां रामलाल भी हुए, सुखराम भी हुए। परमार साहब ने जो लैंड एक्ट लागू किया उसके कारण वहां पर समानता बनी हुई है। उन्होंने साफ-साफ लिखा कि वहां पर गैर हिमाचली जमीन नहीं ले सकता। उसके साथ ही दूसरी धारा जोड़ी कि शहरी हिमाचली, ग्रामीण हिमाचल में जमीन नहीं ले सकता। अगर वो दुकानदारी का धंधा कर रहा है, व्यवसाय का धंधा कर रहा है, चार ट्रक उसने ले रखे हैं तो उसको ग्रामीण क्षेत्र में जमीन खरीदने का अधिकार नहीं है। इसको अभी तक वहां का कोई भी मुख्यमंत्री हटा नहीं पाया है।

अब हमारे पास यहां बचाने के लिए जमीन नहीं बची है। उत्तर प्रदेश के दौर में ही सब जमीनें बिक गयी हैं तो वहां पर आप समानता किस तरह से लाएंगे? तराई में जमीन के सवाल को कोई भी हमारी पक्ष-विपक्ष की राजनीति अपने एजेंडे पर नहीं लाना चाहती है। इससे आप समझ सकते हैं कि जल-जंगल-जमीन से जुड़े हुए प्रश्न इतने सरल नहीं हैं। इसलिए एक अच्छी जन राजनीति से और जन आंदोलनों की एक सतत् प्रक्रिया के समन्वय से ही हम इस प्रक्रिया से समझ सकते हैं, इसका कोई हल ढूंढ सकते हैं।

उत्तराखण्ड की मानस और सांस्कृतिक लोकतंत्र की चुनौतियां

पंकज विष्ट

ये ऐसा विषय है जिस पर बोलने में मैं थोड़ा सा कतरा रहा था। जिसके कई कारण थे— एक तो यह है कि मुझसे बहुत जल्दी में कहा गया और इस बीच मेरे पास समय थोड़ा कम था। थोड़ा बोलने की मुझे आदत नहीं है और न ही मैं शेखर की तरह मेरे पास प्रचुर मात्रा के तथ्य ही उपलब्ध हैं। पर फिर भी मैं अपनी बात कहने की कोशिश करता हूं। मूलतः मैं न तो विद्वान हूं और न ही मैं, यहां मौजूद अपने अन्य साथियों की तरह उत्तराखण्ड की समस्याओं से इतना अधिक जुड़ा ही हूं। तो मेरी एकमात्र योग्यता है जिसे आप कह सकते हैं कि मैं, उत्तरांचल से आया एक लेखक हूं और मैं उत्तरांचल में मान्य भाषा अर्थात् हिन्दी में लिखता भी हूं। इसीलिए एक लेखक का अपने समाज से या संस्कृति से जो संबन्ध हो सकता है उसे देखने, समझने से ज्यादा उससे मेरा कुछ संबन्ध नहीं है। इसीलिए मैं साफ बात यह कहना चाहता हूं कि मेरी कोई विशेषज्ञता नहीं है और जो भी मैं कहने जा रहा हूं वो कोई अंतिम बात भी नहीं है। इसलिए आप मेरी बातों को उसी रूप में देखें तो मुझे अच्छा लगेगा।

मेरे बच्चों ने पहाड़ को केवल देखा है वो वहां रहे नहीं हैं हालांकि मैं, भी वहां ज्यादा नहीं रहा लेकिन आता-जाता रहता हूं। तो पिछले दिनों मैं अपने बच्चों को हुड़क्या बोल के बारे में बताने लगा कि वहां ऐसा डांस और ऐसे गीत होते हैं आदि। आजकल चूंकि उसका मौसम है तो मैं उन्हें बताने लगा कि एक ऐसा डांस होता है वहां या एक ऐसा गीत है जिसमें सारे गांव के लोग शामिल होते हैं और साथ में वो काम करते जाते हैं। उनके लिए अपने आप में यह आश्चर्य की बात थी। मैंने कहा यह धान की रोपाई के साथ चलता है, जिसमें लोग दो तरफ बंटे हुए होते हैं। वो गाते हुए चलते हैं और रोपाई करते जाते हैं। बीच में एक हुडका वाला होता था पर अब ये बात नहीं होती। सामूहिक रूप से यह बात होती थी पर अब यह खत्म हो चुका है। मेरे कहने का

तात्पर्य यह है कि जिस तरह की सामूहिकता पहाड़ के गांवों में आज तक थी या कहना यह चाहिए कि हम लोगों की पीढ़ी तक थी अर्थात् जब तक हम लोग जवान थी तब तक वहां जिस भी प्रकार की सामूहिकता थी वह आज खत्म होती जा रही है।

इसी तरह की एक और बात थी जो खुद मेरे लिए काफी आन्नदपूर्ण थी, वह यह थी कि एक बार मैं गांव में था सामान्य तौर पर तो मैं मैदानों में रहा या पहाड़ी शहरों में रहता रहा। उस दिन मैंने गांव में देखा कि पास के गांव में किसी का देहान्त हो गया था और हमारे सारे के सारे गांव के लोग एक-एक लकड़ी कन्धे पर रखकर जा रहे थे। उन्होंने कहा हम लकड़ी देने जा रहे हैं। तो जो सामूहिकता का जो रूप वहां था यह देखने की बात थी। यह बात अब वहां नहीं है। अब वहां मजबूरी के तहत कुछ ऐसा प्रबन्ध करते हैं। लेकिन पहले जिस तरह की सामूहिकता थी वह खत्म हो गयी।

असल में सच बात तो यह है कि सामूहिकता जितनी ज्यादा होगी वो आदिम अवस्था या कहा जाए कि वह एक तरह से आधुनिक होने का एक मापदंड भी है। आज जो तकनीकी आधारित समाज हैं उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह हो गयी है कि उन्होंने हम को समाज से मूलतः स्वाधीन कर दिया है या आप कह सकते हैं काट दिया है। आज इस तरह की चीजें उपस्थित हुई हैं चाहे वह सरकारी संस्था के रूप में हों या उसके भिन्न संस्थान के रूप में या तकनीकी के रूप में ही हों। जो चीजें उपलब्ध हैं वो आपको बहुत ज्यादा समुदाय या समाज से मुक्त कर देती हैं। जब हम अपनी संस्कृति की बात करते हैं तो सवाल यह है कि हम अपनी संस्कृति के किस रूप को बरकरार रखना चाहते हैं। क्योंकि जो टकराव पुराने समाजों में या आधुनिक मूल्यों में विज्ञान या तकनीकी के आने में हो रहा है उसको हम किस रूप में और किस हद तक सामना कर सकते हैं? मेरे ख्याल से जब हम किसी भी संस्कृति के बारे में बात करेंगे तो यह चुनौती होगी।

मैं अपने एक उपन्यास के बारे में थोड़ा सा जिक्र करने की इजाजत चाहूंगा। मेरा एक उपन्यास है जिसकी पृष्ठभूमि पहाड़ी गांव है। इसकी विषय-वस्तु आधुनिकता और परम्परा के टकराव को लेकर है। उस टकराव में जो पूरी-पूरी समस्या है, मैं पूरे कथानक में नहीं जा रहा हूं। मेरे इस उपन्यास की लेखकीय संवेदना आधुनिकता के साथ जुड़ी हुई हैं।

असल में किसी भी समाज का जो अन्तिम निर्णायक है, जो नियामक है, वो वहां की श्रम की परम्परा बनाती है और अगर हमें अपनी संस्कृति को बचाना है तो यह देखना जरूरी है कि हमारे श्रम सम्बन्धों का विकास किस रूप में हो रहा है। इसको अगर आप नहीं देखेंगे तो हमारे पहाड़ी समाज की जटिलता है और जो पूरा संकट इस बीच देखने को मिलता है वह मूलतः इसी से जुड़ा हुआ है। कम से कम मुझे ऐसा लगता है। आप देखेंगे कि पहाड़ में मध्यवर्ती जातियां लगभग गायब हो चुकी हैं। इसी के साथ ही साथ आप देखेंगे कि पहाड़ में किसी तरह की भी जाति व्यवस्था नहीं रही। कम से कम वहां का जो सबसे बड़ा निवासी है, जिसमें हम लोग आते हैं, उनके पास तो कम से कम वह नहीं रहा है। खेती वहां जरूर है जैसे कि शेखर बात कर रहे थे। आप देखेंगे कि पहले जो काम थे वो काम खत्म हो गये जैसे चमार का काम, चमड़े का काम, कुम्हार का काम, तेली का काम, ये बहुत सारे काम ऐसे हैं जो पिछले पचास सालों में पहाड़ों से बिल्कुल गायब हो गये हैं। अब कम से कम वहां के पहाड़ी लोग तो ये काम नहीं करते हैं। अब सवाल यही है कि हमको इन्हें किस तरह जानना चाहिए। अगर हमारा समाज अपने को ऊंची जाति की प्रक्रिया में ढालने के चक्कर में पूरे के पूरे श्रम से कट जाता है, तो वो कैसी संस्कृति बनायेगा, ये एक समस्या है।

मेरे ख्याल से जो सबसे बड़ी समस्या है वो पलायन से जुड़ी हुई है, वो इसी से जुड़ी समस्या है कि हम एक ऐसे समाज का हिस्सा हैं जो कई मामलों में पुराने रूप से जुड़ा रहना चाहता है। वो केवल उसी मामले में प्राचीन नहीं है जैसे कि शेखर बता रहे थे। मेरे ख्याल से एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि गंगा-जमुना के इतना निकट होने के बावजूद कुमाऊं और गढ़वाल का इलाका

इतना टिपिकल है कि वो पूरी तरह गंगा और जमुना की संस्कृति से कटा हुआ है। और वह बहुत लंबे अरसे से अपनी एक अलग पहचान बनाए हुए है। उदाहरण स्वरूप वहां कभी भी मुस्लिम संस्कृति, इस्लाम के साथ कोई बातचीत नहीं हुई। नतीजा यह है हम लोगों ने एक खास तरह की शंकित प्रकृति को विकसित किया हुआ है। जैसा कि मैंने पहले बताया इसी कारण से हमारे बहुत से कारोबार खत्म हो गए हैं।

अब ऐसे में हम कौन सी संस्कृति को बचाना चाहते हैं। असल में हो ये रहा है, इस समय विश्वव्यापी झंझट ये है कि जो संस्कृति, तकनीकी और नया व्यापारिक या उपभोक्ता संस्कृति या उपभोक्ता पूंजीवाद के कारण विकसित हो रही है। वह दुनियां की किसी भी संस्कृति को बनाये रखने का मौका नहीं दे रही है।

आज तीसरी दुनिया का यानी दुनिया का एक बड़ा संकट ये है कि दो संस्कृतियां टकरा रही हैं। जो नयी संस्कृति आ रही है वो तीसरी दुनियां के देशों की संस्कृतियों को अपने पैरों पर खड़े होने में संकट पैदा कर रही है और एक तरह से अपनी पहचान बचाने का संकट पैदा हुआ है। मेरे ख्याल से जो धार्मिक कट्टरता बार-बार पैदा हो रही है वो मूलतः उसी सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को रोकने के लिए है या दूसरे अर्थों में आप ये कह सकते हैं कि वो एक तरह से हमारी आधुनिक चुनौतियां है या तकनीकी विकास के कारण जो चुनौतियां हमारे समाज के सामने खड़ी हुई हैं हम उनको स्वीकार करने और उसके अनुसार अपने को ढालने की स्थिति में नहीं है। अर्थात् तकनीकी की दौड़ में कहीं भी तालमेल बैठाने की स्थिति में नहीं है। जो वो विकसित कर रहे हैं वही हमको स्वीकार करना है। जब यह हमारी बृहत्तर संस्कृति का हिस्सा है तो हमारी संस्कृति का क्या होगा, ये लगातार उठने वाले सवाल हैं जिनको हमें देखना है।

मुझे ऐसा लगता है कि अगर हम अपनी पहचान, अपनी संस्कृति को बचा सकते हैं तो शिक्षा उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है लेकिन सबसे बड़ी जरूरत यह है कि जो शिक्षा हम दें वह

बहुत अधिक वैज्ञानिक होनी चाहिए। जो ज्यादा विवेकी हो, जो हमारी मानसिकता को बदले, जो हमारी जड़ और कुंद हो चुकी उस मानसिकता को बदले जो अपनी जाति और परम्परा से बाहर सोचने की स्थिति में नहीं है। जब तक हम इस मानसिकता को नहीं बदल पाएंगे तब तक हम अपनी संस्कृति को नहीं बचा सकेंगे। दूसरे अर्थों में अगर हम छोटे स्तर पर, पहाड़ के स्तर पर अपनी संस्कृति को बचाना चाहते हैं – संस्कृति को बचाने का तात्पर्य यहां पर ये है कि जो हमारी जरूरतें हैं, और जो तकनीकी विकास है, यदि हम उनमें तालमेल नहीं बैठा सकते हैं। अर्थात् एक तो ये कि हम किस तरह ही तकनीक को चुनते हैं और दूसरा, हम उस तकनीक को अपनी जरूरत के अनुसार किस तरह से विकसित करते हैं। तब तक ना तो वो संस्कृतियां बचेंगी, जिस वृहत्तर संस्कृति कि हम एक उपसंस्कृति हैं और ना ही हम बचेंगे। मतलब ऐसी दौड़ में जब आई. टी. और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का इतना जबरदस्त दबाव हो तो आप कल्पना कर सकते हैं कि किसी भी रूप में किसी का बच पाना संभव है या नहीं है।

मैं इसको अपने एक उपन्यास से जोड़ना चाहता हूं कि मैंने उसमें एक लक्षण के तौर पर एक घर को लिया है। घर या घराट जो भी आप कहें, उसमें बार-बार ये कहा गया है कि ये एक ऐसा यंत्र है, सिस्टम है जो लगभग दो हजार साल से यथावत चल रहा है। आप अपनी जहीनियत को देखिए, आप अपने ठहराव को देखिए कि आपने संभवत पिछले दो हजार साल में उस घर में एक लकड़ी का टुकड़ा (भित) तक नया नहीं लगाया है। जो है, जैसा है आपने उसको चलाये रखा। यही मानसिकता सबसे बड़ी खतरनाक है। कहना मैं ये चाहता हूं कि अगर हमें एक छोटी संस्कृति के रूप अपने लोकतांत्रिक अधिकार को बचाना है तो हमको देखना ये होगा कि हम किस तरह से अपनी बेहतर वैज्ञानिक और विवेकी शिक्षा-व्यवस्था वहां दे पाएं। और दूसरा ये कि हमारी जो जरूरतें हैं, वो हमारे इतिहास, समाज और हमारी आर्थिक व सांस्कृतिक जरूरतों से वो कितना तालमेल बैठा सकती है। तभी बचने की संभावना है वरना शायद ही कोई चीज ऐसी है जो हमको बचा सके।

प्रवासी पहाड़ियों को लेकर भी इसी संदर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। असल में बार—बार एक नयी स्थिति पैदा हो रही है। इसकी जो प्रवासी पहाड़ी है और जो पहाड़ी वहां रहते हैं, उनके बीच में एक टकराव की स्थिति लगातार बढ़ रही है। असल में जो वहां के पहाड़ी हैं, जो वहां रह रहे हैं उनको ये लगता है कि वो चूंकि वहां रहकर उस सारे बोझ को, एक प्रतिकूल परिस्थिति में रहने का जो संकट है उसको झेलते हैं, खेती को बनाये रखे हैं, वहां की संस्कृति को बनाये रखे हैं। जबकि जो पहाड़ी वहां से बाहर चले गये हैं उन्होंने इस सबको छोड़ दिया है और वो बाहर जाकर आराम से खा—पी रहे हैं और यहां (पहाड़) देखने को तैयार नहीं है। एक तो ये स्थिति है। दूसरी स्थिति है, जो प्रवासी हैं वो एक तरह के अपराध बोध से पीड़ित हैं। वो लगातार ये महसूस करते हैं कि हमने पहाड़ छोड़ दिया है। हम पहाड़ के लिए कुछ कर नहीं पाये, हमको उसके लिए कुछ करना चाहिए। मेरा ये अनुभव है कि लोग यहां से जा रहे हैं और वहां जाकर एक अजीब सी टकराव की स्थिति का ये सामना कर रहे हैं। वहां के लोगों में वो स्वीकार नहीं है। ना ही अपने व्यवहार और दिनचर्या में, मानसिकता में वो इस स्थिति में हैं कि वहां उनको जो भी आधारिक संरचना उपलब्ध है, उसमें वो रह पाएं, क्योंकि पहाड़ी गांवों का विकास लगभग नहीं के बराबर हुआ है। बल्कि पिछले कुछ वर्षों में उनकी स्थिति बदतर हुई है। जैसे कि पानी की बड़ी भारी समस्या पैदा हो चुकी है जिसके कारण किसी भी पहाड़ी गांव में रह पाना लगभग असंभव हो चुका है। कुछ ही सौभाग्यशाली गांव होंगे जहां पानी आ रहा है, अन्यथा सब गांवों में भयानक संकट पैदा हो चुका है। ऐसे में किसी भी नये आदमी का या नये परिवार का आना एक नये संकट का आना है। तो ऐसे में उनका भी वहां पर कोई स्वागत नहीं है।

ये प्रवासी की जो समस्या है ये ऐसी है जिसका आज नहीं तो कल सामना करना पड़ेगा। और जैसे पलायन की जो समस्या है चूंकि पहाड़ की जो स्थितियां है और पहाड़ में जिस तरह के संसाधन उपलब्ध है, अगर हम उन्हीं संसाधनों पर निर्भर करें तो संभवतः वहां की जनसंख्या किसी

भी तौर पर वहां रहने की स्थिति में है ही नहीं। तो जो वैकल्पिक संसाधन है वो संसाधन विकसित करने होंगे जो कि इन संसाधनों के अलावा नये तरीके निकाल पायें।

जो बातें मैंने आपके सामने रखी हैं, मैं कह नहीं सकता कि कितना मैं अपने आपको प्रस्तुत कर पाया। लेकिन कुल मिलाकर मैं ये महसूस करता हूं कि इस विश्वव्यापी सांस्कृतिक संकट के दौर में छोटी संस्कृतियों के लिए ये जरूरी है कि वो ये देखें कि किस तरह से वो अपनी स्थानीय जरूरतों को बदली हुई स्थितियों में, जो नई तकनीकें आ रही है उनके साथ जोड़कर उनको विकसित कर पाती है। तभी संभवतः हम लोगों का भविष्य है, अन्यथा सारी संस्कृतियों का एकसार हो जाना सबको नजर आ रहा है।

विमर्श

राम प्रसाद

विज्ञान इतना विर्तीण रूप में मौजूद हो गया है कि उसको परिभाषित करने की जरूरत है। विज्ञान जो है यह तो जीवित व्यवस्था का विज्ञान है। हमने शेखर पाठक साहब की पत्रिका 'पहाड़' में शैलेश मटियानी के बारे में पढ़ा। वो एक बूचड़ भी थे और कृषक भी थे। जब वो बूचड़ होते थे तो अंगों को अलग-अलग कर देते थे। अब ये है कि विज्ञान जो आज विकसित हुआ है वो पूरी तरह से यांत्रिक हो गया है। यांत्रिक विज्ञान जीवन के मूलभूत के खिलाफ जाता है। इस सारी प्रक्रिया में नये-नये शब्द आ जाते हैं, वो सबको असमंजस में डाल देते हैं। इस बात को गांधी समझे थे और कोई नहीं समझा। उस जमाने में जब सोवियत यूनियन विकसित हो रही थी और हिंदुस्तान में एक चीज थी जिसको कि अच्छी तरह समझा गया वो 1958 का वैज्ञानिक योजना प्रस्ताव था। उसके प्रस्ताव को अच्छी तरह समझा जाना चाहिए, क्योंकि उसी के आधार पर विकास हो सकता है। वो विज्ञान पॉलिसी नहीं है। विज्ञान पॉलिसी तो बाहर के देशों से आयी। विकास के लिए उसका नाम वैज्ञानिक पॉलिसी रखा गया था और वो शायद वही था जिसका आप सुझाव दे रहे हैं कि वैज्ञानिक होना चाहिए। उसमें ये कहा गया था कि अगर हमारे पास साधन नहीं है, हमारे पास तकनीकी नहीं है, हमारे पास कुछ नहीं है तो हमें क्या करना चाहिए? हमें अपने दिमाग का प्रयोग कर तकनीकी विकसित करनी चाहिए।

उससे तकनीकी रूप से पेड़-पौधों को उगाने (नर्सरी) का एक विचार निकलकर आया। और हमने उसको अपनाया। तकनीकी नर्सरी में ये माना जाता है कि आपने कोई बीज बोया, बीज उस वातावरण में पनपता है जो आजकल के वातावरण के बाहर की चीज है। मीडिया का वहां कोई रोल है ही नहीं। अगर मीडिया है तो जड़ टूट जाती है और सब टूट जाता है। तो विकास तो आज मीडिया खा रहा है। विकास में जमीन के अंदर बीज बोन के बाद में जड़ बनती है, जड़ बन

कर जब उसको मीडिया की जरूरत होती है तो वो अंकुर के रूप में बाहर आ जाता है। इस व्यवस्था को समझना पड़ेगा।

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

मैंने दोनो पक्ष रखे थे। एक के बारे में आप कह रहे हैं कि वो एक विदेशी पक्ष है। विदेश से आयात किया गया है अर्थात् तकनीकी आधारित पक्ष है और एक जो आप बात कर रहे थे 1958 की जो विकास के बारे में वैज्ञानिक पॉलिसी है। मैं इन्हीं दोनों बातों को अलग करना चाहता था कि जो वैज्ञानिक पहलू है वो मेरे ख्याल से जब हम समाज के संसाधनों को उपयोग की प्रक्रिया में अच्छी तरह से समझ पाएंगे तभी ये सब कुछ संभव हो पाएगा। कि समाज अपने संसाधनों को कैसे प्रयोग करता है और जब हम उस प्रक्रिया को समझ जाएंगे तो मेरे ख्याल से उसमें जहां कहीं भी हस्तक्षेप की जरूरत है उसके आधार पर हम तकनीकी को विकसित करें या हम वातावरण या व्यवस्था में उस तरह की तब्दीलियां लायें।

मेरा पक्ष वही था कि हम तकनीकी को या विज्ञान को गांव से लेकर चलें। वहां से लेकर चलें जहां पर एक छोटा सा मनुष्यों का संगठन हो, चाहे वो छोटा सा कस्बा ही क्यों न हो या गांव हो या चार घरों का समूह हो, किसी पहाड़ी की छोर पर। उसकी जो आंतरिक क्रिया है वो चाहे अपने संसाधनों के साथ हो या प्रकृति के साथ हो। हालांकि मैं इस बात को यूरोपियन संदर्भ में कह रहा हूं लेकिन ये होना संभव है। जहां-जहां लोगों ने इस तरह की कोशिश की है, वहां-वहां दिक्कत ये होती है कि वर्ल्ड बैंक या कोई संगठन वहां पर आकर अपने नुमाइंदा बैठा देता है और कहता है कि मैं आपको हीरो बना दूंगा। अर्थात् हमारा हम अपने तरीके के अनुसार गांधी जी, सुभाष, चन्डी प्रसाद भट्ट और राजेन्द्र सिंह की पूजा करते हैं, हम पूजा करने वाले लोग हैं। हम एक संगठन की व्यवस्था में आमूलमूल परिवर्तन की बात नहीं कर पाते। मेरे ख्याल से जरूरत ये

है कि उस प्रक्रिया को देखते हुए जो भी व्यवस्था में परिवर्तन होना चाहिए, वो हो और उससे हम अपने आप को वंचित न रखें। ये एक बहुत बड़ी चुनौती है। उसके बगैर आप चाहें कोई भी परिकल्पना कर लें मेरे ख्याल से जितने भी वैकल्पिक मॉडल्स हैं उसमें आप अपने संसाधन को —चाहे वो जल हो, जंगल हो आप नहीं बचा पाएंगे। और पलायन की स्थिति बनी रहेगी।

डॉ. बी.एस. बुटोला

मेरा मतलब यह है कि जो चीज जितनी अच्छी होती है उसमें उतनी बड़ी बुराई भी हो सकती है। उस बुराई का पहला कारण यह है कि आपने विकास की जो एक धारा थी, उसकी बखिया उधेड़ कर रख दी। परंतु जब हम लोग बखिया उधेड़ने लगते हैं तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस चक्कर में हम खुद ही वहां फंस गये। क्योंकि आपका फ्रेमवर्क वही है। आप दोनों लोगों का तर्क यह है कि संसाधन ही विकास कर सकते हैं और संसाधन कौन है जो परिभाषित हैं। मैं कहता हूँ कि हर-एक विकास के स्तर पर संसाधन नहीं आते हैं। संसाधन जो हैं— इट्स ए टेक्नोलॉजिकल डेरीवेटिव, इट्स ए कल्चरल डेरीवेटिव. इट इज डेरीवेटिव ऑफ द टाइम। आपने उन संसाधनों को लेकर कहा कि साब, डॉमीनेन्ट लॉजिक ऑफ डेवलपमेंट इज दैट — आप समझते हैं कि पानी है, जंगल है और जमीन है। ये जो हैं विकास के लिए बहुत जरूरी हैं। मुझे ये लगता है कि वी आर बेसिकली सब्सक्राइविंग टू एन ओवर ऑल इथोस। जब तक हम उस ओवर-ऑल इथोस को अटैक नहीं करते हैं, हम उसी में फंसे हुए हैं।

मुझे लगता है कि थोड़ा सा कठिन शब्द इस्तेमाल करूंगा — एक टेरेन बदलने की जरूरत है। विकेन्द्रीकरण योजना का यह मतलब नहीं है कि देश के किसी भी विषय पर फैसला लेने की जिम्मेदारी, प्रधान मंत्री के हाथ से ग्राम प्रधान के हाथ में चली जाय, नहीं। हो यह रहा है कि हम एक प्रशासक को निकाल कर हिन्दुस्तान में सात लाख प्रशासक बना रहे हैं। विकेन्द्रीकरण का

मतलब है डिस्पेन्सिंग एबव द सेन्ट्रलाइजेशन प्रोसेस इटसेल्फ। क्योंकि हो यह गया है आजकल गांव में जो है चौधराहट चलने लग गयी है। प्रजातंत्र के नाम पर प्रजा तंग आ गयी है। आज प्रत्येक गांव का सरपंच यह कहता है कि साब, मैं तो डेमोक्रेटिकली इलेक्टेड हूं। इसी से रिलेटेड दूसरी बात यह है कि शासन एक अलग चीज है और व्यवस्था एक अलग चीज है। उत्तरांचल की जो समस्या है ये शासन की तकनीक है या व्यवस्था की तकनीक है। मुझे ये लगता है कि आप लोगों ने इसको शासन के बराबर बांट दिया है। क्योंकि समाज भी शासन का एक हिस्सा है। एनजीओ फेल हुए। एनजीओ ने तो फेल होना ही था, क्योंकि भई जो आदमी पहले पंडित जी, ठाकुर साब थे वो अब नये प्रजातंत्र में एम.एल.ए. साहब हो गये या वो ग्राम प्रधान साहब बन गये, तो जो पदानुक्रम है वो टूटा नहीं है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि हमें शासन से अलग जाना पड़ेगा।

तीसरा जो सवाल आता है कि आपने कहा कि सब उत्तरांचल में बद्रीनाथ है, केदार नाथ है, मानसरोवर है। आप समझते हैं कि यह संसाधन हैं। तभी हम कहते हैं कि विज्ञान है। मेरे ख्याल से दोनों चीजें एक-दूसरे को अनदेखा करती हैं। अगर आपकी वैज्ञानिक मनोदशा होगी तो बद्रीनाथ-केदारनाथ को आपको त्यागना पड़ेगा। आध्यात्मिकता भी जरूरी होनी चाहिए। एस्थेटिक्स को आप आगे लाइये। आपने कहा कि हमारे पास वन्यता है। देवभूमि है। देवभूमि का मतलब है कि हम सब स्वर्गवासी हैं, तो कोई गड़बड़ नहीं होनी चाहिए। तब हम सभी लोग स्वर्ग में होंगे। मूल समस्या है कि हम सभी को आध्यात्मिक सोच से आगे सोचना होगा। हमें इसके सौन्दर्य शास्त्र में जाना होगा। क्योंकि आध्यात्मिकता का जो भी तर्क है वह उपयोगी वस्तुओं के पूंजीवाद के तर्क पर आधारित है और जब तक हम इससे आगे नहीं बढ़ेंगे तब तक न तो उत्तरांचल का विकास होगा और न ही भारत का। आज हमें इस बात की जरूरत है कि हम उपयोगी वस्तुओं पर आधारित पूंजीवाद की अपेक्षा ज्ञान पर आधारित आंतरिक क्रिया के बारे में सोचें।

शिक्षा और शिक्षितों की संख्या बढ़ गयी लेकिन शिक्षा नहीं बढ़ी। ज्ञान की तो बात छोड़ दीजिए, शिक्षा ने हममें अभिनय भर दिया। हमें भोंदू बना दिया। मैं दिल्ली इसलिए भाग जाता हूँ कि मैं किसान नहीं बन सकता। और कहीं मुझे अपने पिता का व्यवसाय न अपनाना पड़े। शिक्षा ने और कोई काम किया हो या न किया हो हमारी अपनी जड़ काटने का काम किया है। उस चक्कर में एक पंडित जी का लड़का, एक ठाकुर साब का लड़का अपने गांव के नजदीक बर्तन मलने में बहुत शर्माता है। आई.एस.बी.टी में भले ही वह बाइस घंटे बर्तन मलता रहा हो। उसमें परेशानी नहीं है। दिल्ली है, क्योंकि दिल्ली एक सफलता का नाम है। दिल्ली एक विजय का नाम है। तो यह जो हमारे अन्दर एक विचार भरा पडा है पहाड़ी में एक कहावत है कि लड़का चैन्दल सौरु और भैंसा चाइएँ जौर। लड़के के लिए शहर। लड़का है तो शहर में जायेगा ही। क्योंकि मूल समस्या यह है कि हम लोगों को श्रम की गरिमा तो दी ही नहीं गयी है और अगर कुछ दिया है तो वह यह कि बेटा तेरे को यह नहीं बनना है और यहां नही बनना है।

आपने बहुत अच्छी बात कही थी विज्ञान के बारे में कि विज्ञान एक जैविक विज्ञान हो सकता है। जीवन को संभालने वाला विज्ञान हो सकता है। विज्ञान जीवन को औपनिवेशिक बनाने का विज्ञान हो सकता है। दो बातें हैं— विज्ञान स्वयं में बुरा नहीं है। विज्ञान जब शासन के हाथ की कठपुतली बन जाता है —एपीजे अब्दुल कलाम बुरा आदमी नहीं है पर जब उसको आणविक योजना चलाने वालों का राष्ट्रपति बना दो तो बुरा आदमी हो गया। क्योंकि वे भारत में एक सैनिक राष्ट्रपति चाहते हैं। उसमें एक मिल गया। हालांकि वह वहां से निकल गया यह अलग बात है। लेकिन प्रश्न यह है कि विज्ञान एक व्यावसायिक विज्ञान बन कर रह गया है। वो विशिष्ट ज्ञान नहीं है। विशिष्ट ज्ञान क्या है, मैं दाई से पैदा हुआ। दाई तो दाई रह गयी लेकिन हमारे यहां की पंडिताइन या ठकुराइन स्त्री रोग विशेषज्ञा बन गयी। यह बात क्या है। हमने श्रमिक को वहीं रहने दिया श्रम का शुद्धिकरण कर दिया। इसलिए हमें यह देखना पड़ेगा कि जो विज्ञान आज प्रचलित है वह हमारा भला करने वाला बिल्कुल नहीं है। क्यों नहीं है, विज्ञान हमको कहता

है कि भई जो प्रत्यक्ष है जिसका फल आपके सामने है वही विज्ञान है। जो बिक चुका है वह विज्ञान नहीं है। हमें चाहिए कि लोगों को विज्ञान के ऊपर आजादी की आवश्यकता है।

डॉ. के.एन. भट्ट

आपने एक शब्द 'प्रभाव का विस्तार' का प्रयोग किया। और हम सैद्धांतिक रूप से जानते हैं कि पृथक्करण अर्थशास्त्र में ऐसा हो नहीं सकता है। और हमारे उत्तराखण्ड के विकास के इतिहास में वो है ही नहीं। सन् 1962 तक तो वहां कोई योजना थी ही नहीं। इसके बाद थोड़े बहुत इधर-उधर कुछ उदाहरण मिलते हैं। 1972 या 1974 में जब विकास योजना आई उसके बाद ही कुछ प्राप्त हुआ।

जब 1987 में सुंदरलाल बहुगुणा पहाड़ के विकास के सलाहकार थे तब जलविभाजक विकास पर बहुत बड़ा प्रयोग किया गया। उन्होंने सिंचाई की अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने के साथ स्थानीय अर्थव्यवस्था का अध्ययन भी किया। जीव-प्रौद्योगिकी पद्धति को समझते थे। लेकिन हर किसी को पता है कि उस जलविभाजक प्रबंधन का क्या हश्र हुआ...

मैं मूल बात ये कहना चाहता हूं कि आप दोनों इस बात से सहमत हैं कि जब तक वहां पर शक्ति का निक्षेपण नहीं होगा तब तक आप जल विभाजक लगाइए या कोई अन्य विभाजक भी लगाएं किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। भाई साहब कह रहे थे कि संसाधन के बिना भी विकास हो सकता है। लेकिन मैं उनकी इस बात से सहमत नहीं हूं। शेखर जी ने संसाधन में केवल जंगल और जमीन नहीं कहा, उन्होंने कहा कि मानव तथा वन्यता हमारा संसाधन है। वन्यता सम्मिलित संस्कृति। जब हम इसकी बात करते हैं तो संसाधन हमारे पास अथाह है, अपार हैं, हमारे पास जैवविभाजक तथा शिक्षा आदि सब कुछ है।

दूसरी बात मैं ये कहना चाहता हूँ, किसी वक्ता ने यहां पर कहा कि हम 7 हजार शासक बनाना चाहते हैं क्या ? यह एक गलत दिशा है। हम सबके दिमाग में पंचायत का गलत विचार है। इसके लिए हम जिम्मेदार नहीं हैं। इसके लिए हमारी नौकरशाही तथा हमारी राजनीति जिम्मेदार है।

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा

मेरे ख्याल से आपने, हमारे सामने जो जलविभाजक की परिकल्पना रखी वो नई परिकल्पना नहीं है। लेकिन जो बात मैंने जोड़ने की कोशिश की है, वो ये है कि हमारा विज्ञान या ज्ञान या भ्रम जो भी कहिए जिसका कि मैं विद्यार्थी हूँ, वो हमें बताता है कि किसी संसाधन की जो प्रक्रिया होती है वो बहु स्तरीय होती है। इसीलिए हमने बहु स्तरीय योजना की बात की और इसीलिए हमने कहा था कि जब तक आप संसाधनों को स्थानीय संस्थान के साथ नहीं जोड़ेंगे, तब तक कुछ ठीक नहीं हो पाएगा इसलिए मेरी राय में आपको वहां से शुरूआत करनी होगी।

आपने जो विस्तार प्रभाव तथा पृथक्कीकृत अर्थव्यवस्था की जो बात है या मेरे ख्याल से ये प्राकृतिक भी है। क्योंकि जब भी हम उत्तराखण्ड , बिहार या उत्तर प्रदेश के किसी इलाके की बात करें हमारी आदत होती है कि हम अलौकिकता में विश्वास करते हैं। मुझे लगता है कि ये सबसे घातक सोच है। भाई साहब सारी दुनिया में जो हो रहा है वो अलग है और हमारे यहां जो है वो बिल्कुल ही अलग है। मतलब एक तो वो अलग हैं, हम सारी दुनियां से अलग है और इसीलिए जब तक ये हमारी अलग पहचान, अलग समस्याओं का निदान नहीं होगा, उसका निदान नहीं होगा। मुझे लगता है इसके साथ बहुत ही समस्या जुड़ी हुई है। जब 1975 में आपातकाल के समय में बिहार में 2 साल तक जेल में रहा। तब भी हमें यही कहा जाता था कि बिहार अलग है, गुजरात अलग है, ये क्या चक्कर है ? अपवाद को छोड़िए। मेरे ख्याल से यह एक प्रक्रिया है

जिसके कमोबेश हम सब हिस्सा हैं। मेरे ख्याल से यही मैंने शुरू में कहा और जो हमारे मित्र बुलोटा साहब शायद समझ नहीं पाये कि हमने बहुवचन की बात की है। हमें इस बात की आलोचना करनी चाहिए कि जो ढर्रे का विकास हमपर थोपा गया है वो ठीक नहीं है। क्योंकि संस्कृति और अर्थशास्त्र कभी अलग नहीं हो सकते।

एक बहुत बड़े भूगोलवेत्ता थे डॉ. गिडीज्ड। उन्होंने तीन शब्द दिए संस्कृति, स्थान तथा राजनीति। उन्होंने पूरे समाज तथा सामाजिक प्रक्षेपण की जो परिकल्पना की है वो इन्हीं तीन शब्दों में की है। हालांकि वो 1850 का अध्ययन। लेकिन 1927 में और 32 में पेट्रोडिडीज ने जब इसकी परिकल्पना की तो उन्होंने इसका विकास किया। उन्होंने कहा इट्स गेम ऑफ नाइन स्कवायर। उन्होंने इन तीनों को थ्री बाई थ्री मैट्रिक्स पर डाल दिया, और जब थ्री बाई थ्री मैट्रिक्स पर डाला तो एक बिल्कुल ही रूचिकर संयोजन बना। राजनीति के बिना संस्कृति और स्थान की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। संस्कृति के बिना स्थान तथा राजनीति की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। इसीलिए मैं बहुवचन की बात कर रहा हूँ। जिसकी बात शेखर जी ने भी की, हमको इसको जगह देना पड़ेगा और इसकी शुरुआत तभी होगी जब पूरी व्यवस्था में, शासन की प्रक्रिया में ग्रामीण समाज की अहम भूमिका हो।

जो तीसरी बात उठी थी वो है हमारे संसाधनों की, मेरे ख्याल से हमारे और शेखर साहब की जो परिभाषा थी वो वही पुरानी थी। मेरे ख्याल से जो एक पन्ने का छोटा सा नोट वितरित किया गया उसमें भी संसाधनों के साथ हमने कहा, संसाधनों का विकास, संसाधनों का उत्तरोत्तर विकास। सुरक्षित रखने जैसे शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। मैंने विकास की बात की और विकास तभी हो सकता है जब कि इसे समय के स्तर पर आंका जाए, संस्कृति के स्तर पर आंका जाए, तकनीकी स्तर पर आंका जाए तो हमने संसाधनों के विकास की बात की। तो इसलिए उसके स्थिर भाव जल, जंगल तथा जमीन भी हो सकते हैं। वो जल, जमीन और जंगल के संसाधन नहीं

रहेंगे या ये महत्वपूर्ण नहीं रहेंगे, इससे मैं कतई सहमत नहीं हूँ। ये संसाधन महत्वपूर्ण रहेंगे क्योंकि ये सिर्फ आर्थिक स्रोत नहीं हैं। इसका बहुत व्यापक आयाम भी है।

मेरे ख्याल से संस्कृति के इतिहास की जो समस्या रही है उसका कारण डर है, उपनिवेशवाद का डर। उपनिवेशवाद विकसित इलाकों की संस्कृति को अनुपाती करती हैं। उसमें हम डरते हैं कि कहीं हमारी अपनी पहचान उसमें न बन जाए। लेकिन मेरे नजरिये से ये हमारी अपनी कमजोरी का एक इज़हार है। यहां तक कि सांस्कृतिक रूप से हम अन्दर से इतने खोखले हो चुके हैं कि शायद उस खोखले से बर्तन को हम ज्यादा देर तक लेकर चल न पायें।

दूसरा जहां तक संस्कृति की बात है तो संस्कृति और सभ्यता के बीच हमेशा से ही तालमेल का संबंध रहा है। पोत्वार संस्कृति, हड़प्पा संस्कृति और उसके बाद की सभ्यता। ये संस्कृति और सभ्यता का जो तालमेल रहा है उसमें ऐसा नहीं है कि संस्कृति एक सभ्यता की बाढ़ में बह जाता है। वो उसका एक हिस्सा हो जाता है। यही जो हम भारतीय सभ्यता कहें उसकी एक पहचान है कि जो कुछ भी आता गया वो हमारा हिस्सा बनता गया। जब भी इस तरह की बात हुई हो। आज भी आप देखें तो मेरे पास दो उदाहरण हैं, पंजाब जहां से इतना ज्यादा बाहर पलायन हुआ है। 1978 में मैं एक गांव में गया था जालंधर के पास बरनाला कलां जो कि आधुनिक गांव माना जाता था। वहां का कोई भी घर ऐसा नहीं था जहां से एक बंदा बाहर नहीं गया हो। और मैं अभी इस साल की शुरुआत में दो महीने वहां पर लगाकर आया और वहां पर कई बार गया। और मैंने देखा कि जो 'पंजाब में वापस आए हैं' वो आज कितने सनसनी रूप में गांव में उपलब्ध हैं। 20 साल पहले तक आपकी संस्कृति में शायद यह नहीं था। जब कि वहां पर पहले एक आदमी बाहर था अब चार आदमी बाहर हैं। लेकिन पंजाब आज अपने उन्नत रूप में उस तमाम चीजों के साथ फिर से वापस लौटा है। वही हाल, मेरे ख्याल से जिस तरह से हमने अमरीका में देखा लाल भारतीय को लेकर, लाल भारतीय की पहचान कहीं नहीं थी। अमेरिकी नक्शे से लाल भारतीय

हमेशा—हमेशा के लिए उजड़ चुके हैं। लेकिन आज वो अपनी भाषा नहीं जानते, अपना गाना नहीं जानते, परंतु फिर भी अपनी एक पहचान बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

मुझे आपकी एक बात बहुत अच्छी लगी कि हम किस चीज को सजोना चाहते हैं, वो जो कि श्रम को श्रमिक से अलग करता है, या ऐसा समाज कि जिसमें मनुष्य की कीमत कम है और हमारी पहचान या तो ठाकुर है, राजपूत है या ब्राह्मण है। ऐसे समाज को, ऐसी संस्कृति को बचाकर हम क्या हासिल करना चाहते हैं। तो वो बात तो वहां पर बिल्कुल ठीक है। लेकिन मेरे ख्याल से ये सांस्कृतिक पहचान केवल ठाकुर और मंदिर बचाकर नहीं हो सकती। मेरे ख्याल से उससे भी बड़ा है हमारा कल्चर, हमारी रवायत, हमारा जो सोचने समझने का ढंग है इससे भी कहीं ज्यादा व्यापक है। हमारे ख्याल से हम सभी को संस्कृति को फिर से परिभाषित करने की जरूरत होगी। और जैसे—जैसे उत्तरोत्तर समाज बदलता है, संस्कृति को फिर से एक नयी कसौटी पर परिभाषित किया जाता है। और इससे हमें घबराने की जरूरत नहीं है। जरूरत इस बात की है कि हम भीतरी और बाहरी विश्व में, जो हमारा आंतरिक तथा बाहरी प्रदेश था उसके बीच हम किस तरह से सामंजस्य लाते हैं, ये बड़ा जरूरी होता है।

एक टी.वी. न्यूज है कि यूरोपियन समाज में सबसे बड़ी समस्या है वो है कि वहां आज चर्च में कोई भी यहूदी (क्रिश्चियन) नहीं जा रहा है। लेकिन वहां पर ये समस्या वहां रहने वाले दक्षिण भारतीय मुसलमानों को नहीं है। उनके मस्जिद और उनके गुरुद्वारे बहुत बेहतरीन तरीके से चल रहे हैं। उसमें पैसे भी बहुत आ रहे हैं। और उनमें काफी सांस्कृतिक पहचान जो उनकी बन रही है तो वो केवल एक स्थान है। अगर गुरुद्वारा है तो वहां केवल घर की बात नहीं हो रही, गुरुद्वारा एक नयी पहचान दे रहा है। वहां केवल गुरु ग्रंथ साहब की बात नहीं हो रही। लेकिन गुरुग्रंथ साहब से जुड़ी हुई जो एक भक्ति की परंपरा थी जो एक सामंजस्य स्थापित करने की परंपरा थी, उसको भी फिर से एक नई पहचान मिल गयी है। तो मेरे ख्याल से अगर वो सांस्कृतिक पहचान नजरिया हो तो बेहतर होगा।

सुन्दरचंद ठाकुर

अभी आपने कहा कि पंजाब से जो लोग बाहर गये हैं उनकी वजह से पंजाब में संस्कृति ज्यादा स्मृद्ध हुई है। उसका एक आधारभूत कारण है कि जो लोग बाहर गये हैं उन्होंने उस संस्कृति को विकसित कर इसे स्मृद्ध किया। यदि हम आज अपनी संस्कृति को विकसित करना चाहते हैं तो इसके लिए हमें उसे सहयोग करने की जरूरत है। लेकिन यदि पहाड़ का कोई आदमी बाहर जाता है तो उस संस्कृति को विकसित करने के लिए सहयोग नहीं कर पाता है। उदाहरण के लिए यदि आप पहाड़ के गांवों में जाएं तो वहां परिवार और परिवार के बीच में वैसे संबंध नहीं रहे। पंकज जी ने कहा कि सामूहिकता खत्म हो रही है। उसका एक आधारभूत कारण यह है कि वहां सभी लोग एक साथ रोपाई करते हैं तो उन्हें सुविधा होती, लेकिन न जाने क्यों वहां के लोग ऐसा नहीं करते हैं। क्योंकि वहां की आर्थिक स्थिति के कमजोर होने के कारण परिवार और परिवार के बीच में संघर्ष बढ़ गये हैं। जहां संसाधन कम हो जाएंगे वहां पर हर आदमी अपने-अपने हिस्से की चीजें बटोरने के लिए दूसरे आदमी से झगड़ा करेगा। और इस अधिकतर लोगों के पहाड़ से बाहर आने के कारण उन्हें कोई सहयोग नहीं मिल पाता है और आर्थिक स्थिति बिगड़ रही है। लेकिन मुझे लगता है कि पंजाब के संदर्भ में इस स्थिति को ऐसे नहीं देखना चाहिए क्योंकि वहां पर उन्होंने चीजों को और अधिक विकसित करने में मदद की है।

पंकज बिष्ट

जैसा कि मैंने पहले ही कहा कि पिछड़े लोग अपनी पहचान बचाने के लिए धर्म का सहारा लेते हैं या अपनी एक सामूहिक पहचान की ओर लौटते हैं जो वो कहीं से लाए हैं। हम दिल्ली में अपनी पहचान बचाने के लिए पहाड़ी हो जाते हैं और कोशिश करते हैं कि हमारी पहचान बचेगी। यूरोप

में गुरुद्वारे या मंदिर और मस्जिद मीटिंग प्वाइंट इसलिए है क्योंकि उनको पता है कि वो जिस प्रभुत्व समाज में रहते हैं वहां उनकी कोई पहचान नहीं है। अगर वो अपने धर्म का सहारा नहीं लेते हैं तो उनके पास कहीं मुंह छिपाने की जगह नहीं है – ये एक समस्या है।

पंजाब के बारे में सुन्दर जी ने कुछ बातें कहीं और चूँकि सिन्हा साहब वहां के अध्येता है तो उन्होंने बताया। लेकिन मैं बाहर से देखकर कुछ कह रहा हूं कि पंजाब और पहाड़ के गांवों में अंतर है पहाड़ के गांवों में आर्थिक संसाधनों की कमी होती जा रही है। जबकि वहीं पंजाब में बड़ी खेती के लिए बहुत सी उपजाऊ जमीन उपलब्ध है जिससे बहुत अधिक पैसा उपजता है। इस प्रकार पहाड़ के मुकाबले वहां की आर्थिक दशा बहुत ही समृद्ध है। लेकिन पहाड़ में हम एक ऐसे समाज से आते हैं जो लगभग परत समाज है। जो लगातार होते पलायन को अपना एकमात्र रास्ता मानकर बैठा है जो कि एक बड़ा संकट है। नतीजा ये है कि उस समाज में कुछ जुड़ नहीं रहा है। मुझे लगता है पहाड़ की अर्थव्यवस्था को बेहतर बनाने के लिए हमारे नये शासकों तथा कार्यकर्ताओं को ऐसे नियम बनाने चाहिए जिससे वहां की अर्थव्यवस्था में सुधार हो सके।

शेखर पाठक

बुटोला जी ने दो-तीन सवाल उठाये थे। उन्होंने देवभूमि का भी जिक्र किया। मैंने शुरू में बताया था कि हमारा समाज, सामाजिक रूप से भी एक विविधता भरा है। कभी-कभी हमें तथा कई प्रवासियों को भी गलतफहमी होती है वो सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की पहचान को एक साथ जोड़कर केवल कुमाऊं-गढ़वाल की ही संस्कृति कह देते हैं। अर्थात् वे ये समझते हैं कि ये बनाई हुई संस्कृति है। आप अपनी पहचान को जितना अधिक बनाओगे उतनी ही ज्यादा आपके लिए गुंजाइश बढ़ती जाएगी। अभी देहरादून में जिस तरह की भाषा इस्तेमाल हो रही है, वो ऐसी भाषा

है जिसका इस्तेमाल करने में हमें लगता है कि हमारी जबान गंदी हो जाएगी। और इस प्रकार से क्षेत्रवाद सामने आ रहा है।

उत्तराखण्ड की पहचान में जो भोटान्तिक तथा बनराजि का समाज है उसमें चाहे वे लोग जनसंख्या के लिहाज से कितने ही कम हों लेकिन सांस्कृतिक पहचान के लिहाज से वो बड़े महत्वपूर्ण हैं। इसमें थारु और बुक्सा भी हैं जो कि मैंगोलाइट है। लेकिन उनके होठों मंगोलवंशी भाषा नहीं है, बल्कि वो राजस्थान और उत्तरी भारत की भाषाओं का प्रयोग करने लगे हैं। क्योंकि आप अपने होठों की भाषा और कपड़े बदल सकते हैं लेकिन क्रोमोसोम तो नहीं बदल सकते। अब इसी समाज में हमारे मध्यकाल का इतना सारा प्रवासी समाज भी है जो राजस्थान से यहां आया है। आज भी आप गढ़वाल में स्थित अजमेर पट्टी देखिए, या हमारे पोखरी, बीकानेर, रामपुर तथा डुंगरी आदि को देखें तो लगभग ये सभी नाम राजस्थान के ही हैं और ये सभी नाम उस समय से ही हैं जब मध्यकाल में हमारे यहां राजस्थान से प्रवासी आए थे।

इस तरह हमारा समाज छोटी-बड़ी, नयी और पुरानी परतों से बना है। बल्कि उसमें जो तथाकथित उत्तरी भारत की जातिगत विभिन्नता मौजूद है मुझे लगता है कि वह बाद में आया है। क्योंकि उत्तराखण्ड में आपको मंदिरों के पुजारी ठाकुर मिल जाएंगे। आपको ऐसा देवता मिल जाएगा जिसको खुदाई कहते हैं, जिसका मंदिर तो होगा लेकिन उसके भीतर कोई मूर्ति नहीं होगी। जैसे कि अभी पंकज दा कह रहे थे कि इस्लामिक प्रभाव मध्यकाल में आया। हमारे यहां मार-काट वाला इस्लामिक प्रभाव नहीं आया। वहां पूरा का पूरा सांस्कृतिक प्रभाव आया। हारमोनियम कहां से आयी, तबला कहां से आया, इकतारा कहां से आया, रामलीला की तालीम कहां से आयी। लेकिन उनको अरब से आये हुए पैसे से मस्जिद बनाने की जरूरत नहीं पड़ी। आज भी जो गूजर है, वो सही प्रकार से बस नहीं पाए हैं। जिन्हें हम पार्की से, बुग्यालों से भी निकालना चाहते हैं। वे सभी मुस्लिम हैं वे न तो अयोध्या और न ही यरूशलम सोच के प्रति झुकाव रखते हैं। अगर उनसे बुग्यालों में मस्जिद बनाने की बात करें तो वे कहेंगे कि मस्जिदों की

जरूरत ही नहीं है। खुदा हर जगह है, वो भी मुस्लिम। और लोहाघाट—चम्पावत में जाएंगे तो आपको ऐसी मस्जिद मिल जाएगी जो पहाड़ी घर के ऊपर मात्र चार छोटी मीनारें खड़ी कर दी हैं और वो कहते हैं कि यहां खुदा ठीक से रह सकता है। चूड़ी बेचने का काम करते हैं, रंग का काम करते हैं, चमड़े के जूते वहां है, उनका काम करते हैं।

देवभूमि वाली संकल्पना में देवताओं की नहीं, बल्कि यह पलायन की व्यवस्था वाले 85 लाख लोगों की भूमि है। इसलिए आप पूरे देश से भी जुड़े हुए हैं आप कश्मीर, हिमाचल, सिक्किम और नार्थ ईस्ट के मुकाबले दिल्ली में चौपाल करने का जोखिम अधिक उठाते हैं। इसका बड़ा कारण है कि आप मुख्यधारा की सोच में ही जीते हैं और प्रादेशिक सोच को कोई मान्यता ही नहीं देते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय धारा में होने के कारण जो बाहरी दबाव है वो आपको सचेत करता है। इसमें मध्यकाल में आए हुए समाज के अलावा विभाजन के समय बंगाल और पंजाब से आये हुए लोग भी शामिल हैं। उनमें से कुछ लोग अच्छी तरह से बसे हुए हैं और कुछ नहीं। कुछ बड़े भूमिपति हैं और दिनेशपुर वगैरह के कुछ लोग अभी भी अपनी जमीन के लिए, नागरिकता के लिए लड़ रहे हैं।

दूसरा, पंकज दा ने परम्परा और आधुनिकता की संकल्पना के बारे में कहा। किसी भी समाज में कभी भी सौ प्रतिशत आधुनिकता नहीं आती है, चाहे वो यूरोप का ही समाज क्यों न हो। और कोई भी समाज शत—प्रतिशत परम्परा से खड़ा नहीं होता। हमारे जैसी भौगोलिक परिस्थिति में हमारा भूगोल हमें विवश करता है कि हम स्थानीयता को बड़े अर्थों में बनाये रखें। ये ठीक है कि आज तकनीकी धूम मजा रही है, आपके घरों में फोन पहुंच चुका है, रेडियो पहुंच जा रहा है आपने सैटेलाइट डिस्क लगा लिया है, आपके घर में बहुत सारे चैनल आ रहे हैं। लेकिन जिस दिन आपके घर में कोई मरता है, उस दिन ये सब तकनीकी आपके कुछ काम नहीं आती है। उस दिन आपका समुदाय ही काम आता है। और रुपाई खत्म नहीं हुई है आज भी वह समाजों में बंटी हुई है, लेकिन प्रवास इतना ज्यादा है और परिवार का आकार बढ़ने के कारण कुछ परिवारों में

भूमि इतनी कम हो गई है कि उसमें उतना बड़ा उत्सव करने की उसकी क्षमता नहीं है। लेकिन आज भी, इस महीने में बारिश न होने के बावजूद भी रोपाईं लगी। दिल्ली से शूटिंग करने के लिए भी लोग पहुंचे। आज भी रामगंगा में समाज द्वारा एक साथ मनाए जाने वाला त्यौहार आज भी मनाया जाता है।

उत्तराखण्ड के भीतर सांस्कृतिक विभिन्नता है। जब हम शीर्षक में कुमाऊंनी—गढ़वाली शब्द को रखते हैं तो हम यह भूल जाते हैं कि यहां मोटिया भी है, यहां बनराजि भी है, थारु भी है, बुक्सा है, यहां पंजाबी, बंगाली भी है और यहां जौनसारी भी एक अलग पहचान में है। और यदि आप जौनसार से ऊपर चले जाएंगे तो बन्माण में एक अलग संस्कृति है। कुछ समय के लिए हिमाचल में चले जाते हैं और कुछ समय बाद यहां लौट आते हैं। वहां आज भी कौरव और पांडव पूजे जाते हैं, कर्ण का मंदिर है। नन्दादेवी इतनी बड़ी हमारी प्रजाडिंग डाइटी है लेकिन धारचूला में नन्दादेवी कहीं नहीं चलती है। उत्तरकाशी जिले में नन्दा देवी कहीं देवी के रूप में नहीं पूजी जाती है।

तो उस विभाजन के साथ पिछले पांच—सात हजार साल के दौर में इतने ज्यादा एथनिक, लघु सामाजिक—सांस्कृतिक संगठन मिले हुए हैं। उस विभाजन का संबंध कहीं न कहीं हमारे प्राकृतिक विभाजन के साथ है और ये सांस्कृतिक और प्राकृतिक विभिन्नता हमारे लिए परिसम्पत्ति हो सकती है। आप उत्तराखण्ड में सिर्फ तकनीक के माध्यम से क्या कर सकते हैं? तकनीक लाकर कौन सा गुल खिला सकते हैं? और नारायण दत्त तिवारी जी कहते हैं कि चुनाव जीतने के बाद ही मुझे सीधा सद्बुद्धि आ गयी है और मैं उत्तराखण्ड को खोलता हूं। आप कितने लोगों को रोजगार देंगे? ठीक है कि एक बड़ा आयाम हो सकता है कि आप आई—टी क्षेत्र में लोगों को रोजगार दे सकते हैं। लेकिन दूसरी ओर आपको इको—टूरिज्म लाना होगा, तीसरी ओर आपको जमीन की पैदावार का तरीका बदलना होगा। अगर ये नहीं करेंगे तो आपके लिए मनीआर्डर कितने समय तक आएगा। अब तो अगर मेरा भाई दिल्ली में है तो वो मनीआर्डर नहीं भेजता है, क्योंकि वो

अपनी पत्नी और बच्चों को दिल्ली ले आया है। मनीआर्डर इकोनॉमी का पूरा परिदृश्य बदल गया।
वैसे भी वो बैंक ड्राफ्ट की इकोनॉमी हो गयी है। क्योंकि गांव में बैंकिंग बहुत पीछे चली गयी।

मुझे लगता है कि उत्तराखण्ड के संसाधनों पर बोलना इतना सरल नहीं है जितनी सरलता से मैं बोल रहा था या जितनी सरलता से हम लोग हिस्सेदारी कर रहे थे। तो हम ये कह रहे हैं कि अगर हम इसके एक-एक पक्ष में जाएंगे तो हमारे पास ज्यादा साक्ष्य होते हैं। अगर आप दिल्ली पंचवर्षीय योजनाओं का विश्लेषण करेंगे तो पैसा जो उत्तराखण्ड में आ रहा है वो कम नहीं है, बल्कि ऐसा हुआ है कि पिछले 20 साल में उत्तर प्रदेश में रहते हुए उत्तराखण्ड का वार्षिक बजट हिमाचल के मुकाबले ज्यादा था इसीलिए कई सालों तक उत्तराखण्ड राज्य के मुद्दे को हटा दिया गया। फिर ये तर्क दिया गया कि हमने उत्तराखण्ड समिति बना दी है। फिर हमने कुमाऊं-गढ़वाल मंडल विकास निगम बना दिये हैं। इसके अलावा जैसे पहले हिमाचल का वार्षिक बजट 360 था तो हमने उत्तराखण्ड के लिए 400 कर दिया। लेकिन इससे कुछ खास नहीं हुआ क्योंकि जमीन पर कुछ भी नहीं पहुंचा क्योंकि वहां की जमीन के हिसाब से वहां कोई भी चीज विकसित नहीं की जा सकी।

मैं इसके साथ जोड़ना चाहता हूं कि हमें जितनी चीजों पर भी अधिकार मिला है वो उपनिवेशी पद्धति के कारण ही मिला है। जल, जंगल तथा जमीन वाली चीजें अंग्रेजों के जमाने से ही शुरू हो चुकी थी हमने 1947 से इन्हें नए सिरे से शुरू नहीं किया। उत्तराखण्ड में ये सब चीजें बहुत ही खतरनाक तरीके से बनीं। और दुर्भाग्य ये रहा कि आजादी के बाद हमारे यहां प्रतिपक्ष जैसा कुछ उभर ही नहीं सका। क्योंकि जितने भी स्वतंत्रता सेनानी थे वो ब्रिटिश पीरियड में प्रतिपक्ष थे, और बाद 1947 के बाद वो सब शासित पार्टी बन गये। उसके बाद हमारे यहां 8-10 साल तक चुप्पी रही और फिर वह जनआंदोलनों के रूप में सामने आयी। ये अलग बात है कि उनमें से कितनी चीजों का हल निकला और कितनी का नहीं। लेकिन समाज के स्तर पर बहुत अच्छे तरीके से मंथन हुआ। अगर आप आजादी के बाद के आन्दोलनों का भी विश्लेषण करेंगे तो उसमें

सिर्फ उत्तराखण्ड राज्य का ही आंदोलन नहीं है, उसमें वन, विश्वविद्यालयों की स्थापना, गढ़वाल कमिश्नरी की स्थापना आदि के लिए आंदोलन थे। अर्थात् आपको कमिश्नरी के लिए भी आन्दोलन करना पड़ा, क्योंकि अंग्रेजों की तर्ज में नैनीताल कमिश्नरी आजादी के बाद भी बनी रही। अर्थात् टिहरी, उत्तरकाशी जैसा जिला भी नैनीताल से संचालित रहा उसके लिए भी आंदोलन करना पड़ा। ऐसा ही पिथौरागढ़ में भी हुआ। जिस प्रकार से पौड़ी और उत्तरकाशी के लिए आवाज उठाई जाती है उसी तरह से अल्मोड़ा के अलावा नैनीताल के लिए भी उठायी जाती है। उसका बड़ा कारण है कि हम इस विकास की सही नीतियां और राजनीति और प्रशासन को सही तरीके से विकसित नहीं कर पाए। अब पौड़ी में आंदोलन इसलिए हो रहा है कि वहां से कमिश्नरी न ले जायी जाय। लेकिन हम कहते हैं कि आप कमिश्नरी को कहीं भी ले जाओ लेकिन कुछ काम तो करो।

तीसरा शिक्षा के बारे में हमें यही चिंता रहती थी कि हम शिक्षा को किस तरीके से बेहतर बनाएं। हम जिन भौगोलिक परिस्थितियों में रहते हैं वहां हम बहुत अच्छे खिलाड़ी बन सकते हैं। जैसे नीग्रो खेलों में छाये हुए हैं और हिमालय में शेरपाज जैसे जितने भी लोग हैं वो पर्वतारोहण में छाए हुए हैं। उत्तराखण्ड के लोग खेलने में बहुत अच्छे हैं इसलिए वो खेलों में बहुत आगे जा सकते हैं। वहां के लोगों में पढ़ने-लिखने की क्षमता बहुत अच्छी है कि जब वो आज की शैक्षिक स्थितियों में ही इतने आगे आ गए हैं तो भविष्य में बेहतर सुविधाएं मिलने पर और भी आगे आ सकते हैं।

हमारे इलाके से होने वाला पलायन हमारी अर्थव्यवस्था के लिए एक बड़ी समस्या खड़ी करने वाला है और ये आपके या हमारे चाहने से रुकने वाला नहीं है। लेकिन हम चाहते हैं कि जो लोग पलायन के कारण नीचे गये हैं वो अपनी जड़ों से न कटें वो वहां भी बने रहें। दूसरा यह कि वहां भी कुछ लोगों को रुकना चाहिए नहीं तो नये राज्य में वही रहेंगे, जैसे कि हमारे एक मित्र ने कहा कि उत्तराखण्ड में पिछली या अगली जिस भी विधानसभा का चयन हुआ है, वहां

का जो भी समाज है वे सब उसी के प्रतिनिधि के रूप में चुनकर आए हैं और उन्हीं लोगों ने उनका चुनाव भी किया है। इस चुनाव में वहां से पलायन कर चुके लोगों का योगदान न के बराबर होता है जिससे प्रतिनिधियों की कुल संख्या में दो-चार चोर उचक्के भी शामिल हो जाएं तो हैरानी की कोई बात नहीं है। इस प्रकार वहां भी आपको सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कर्मों आदि में भी ऐसे लोगों की जरूरत होती है जो कि गांव में रहते हों और गांव की समस्याओं को जानते समझते हों।

आज जिस तरह से वैश्वीकरण अपने पैर पसार चुका है उससे लगता है कि कहीं हम सबकुछ न खो दें। आज भी हमने अपने ग्रामीण समाज में जो चीजें बचा रखी हैं वो सब उपनिवेशवाद के कारण ही हैं। ये ठीक है कि उसमें बहुत सारी बातें गायब भी हो गई हैं और कुछ अन्य बातें शामिल भी हो गई हैं। जैसे आप पिछले सालों में देखिए कि 50 सालों के बीच जातीयता कहीं नीचे आ गयी है। इसके दूसरी ओर ये बात भी ठीक है कि सन् 52 सन शिल्पकारों को जो आरक्षण मिला था उसके अनुसार आज भी उन सीटों को नहीं भरा जा सका है। वहीं 1967 में आरक्षण प्राप्त करने वाला भोटिया समाज पिछले 20 सालों के भीतर ही रोजगार के क्षेत्र में छा गया है लेकिन थारू और बोक्सा नहीं छा पाये। वनराजियों को कहीं दस साल पहले चौकीदारी की नौकरी मिली। और जौनसारी भी उतनी नौकरियों में नहीं हैं जितनी कि आरक्षण के कारण उन्हें पूरे क्षेत्र में मिलनी चाहिए थी।

शिक्षा आपको सबल बना सकती है जिसके माध्यम से आप देश के किसी भी क्षेत्र जैसे खेल, विज्ञान, पत्रकारिता, अध्यापन आदि लगभग सभी क्षेत्रों में नाम कमा सकते हैं। इसलिए एक रूप में शिक्षा को प्राथमिकता दी जा सकती है। वहीं शिक्षा आपको अपने संसाधनों की हिफाजत और संसाधनों का इस्तेमाल करना सिखाती है। विश्व बैंक ने संरक्षण और विकास की शब्दावली के अलावा अन्य शब्दावलियां भी दी जिसके लिए समाज में कुछ प्रतिक्रियाएं होने लगीं। हम लोगों ने काफी समय तक इस शब्दावली से परहेज किया लेकिन 70-72 में हमारे यहां भी संरक्षण की बात

उठने लगी। यदि आपने वन सत्याग्रह की डाक्यूमेंटरी देखी होगी तो उसमें गया कि जो हमारे जंगल को छेड़ता है वह हमारी जान को छेड़ता है। क्योंकि हमारे कुटीर उद्योग, पशुपालन, हमारे गीत और हमारी खेती आदि सभी जंगलों से जुड़े हुए हैं। इसलिए जो हमारे जंगल को छेड़ता है वह हमारी जान को हमारे प्राणों को छेड़ता है। इसी प्रकार 1922 में शक्ति नामक विषय पर एक संपादकीय भी लिखा गया। एडीटोरियल था शक्ति का जो 1922 में लिखा गया। 1926 में गिरदा ने 'वृक्ष को विलाप' नामक कविता लिखी थी। तो जब भी हम संरक्षण की बात करते हैं तो उसमें एक तरीके से विकास नहीं आता है , यदि आप अपने संसाधनों में बढ़ोतरी करोगे तभी उनका सदुपयोग भी होगा।

हमारी ईंधन पद्धति बायोमास पर आधारित है। अर्थात आज हमें लगभग सभी चीजों के लिए लकड़ी की जरूरत है यहां तक कि मुर्दा तक जलाने के लिए भी लकड़ी की जरूरत होती है। कोई भी व्यक्ति अपने मुर्दे को जलाने के लिए बिजली के शवदाह गृह का प्रयोग नहीं करना चाहता है। जब दिल्ली के लोग ही इसका बिजली के शवदाह गृह का प्रयोग नहीं करते हैं तो उत्तराखण्ड के लोग तो करना ही नहीं चाहेंगे। अगर ऐसी ही स्थिति रही तो आप इन खत्म होते हुए संसाधनों को बढ़ाएंगे कैसे ? आज हमारी बहुत सारी जमीनों को सरकार ने दबोचा हुआ है, हम उस जमीन को समुदाय को कैसे दे पाएंगे ? यदि आप पनघट, गोचर और चराई के क्षेत्र बढ़ा देते तो हमारे ग्रामीण समाज में तब्दीली आ सकती है। अब जब सराकारें नौकरियां देना बन्द कर रही हैं। और जिस तरीके से बहुराष्ट्रीय कंपनियों और ग्लोबलाइजेशन के चलते हुए दौर में नौकरियां कितनी घट जाएंगी ये देखने की बात है। यदि नौकरियां बनी भी रहीं तो आप पानी बेचेंगे, पेप्सी बेचेंगे या फिर उनका जंक फूड बेचेंगे। और ऐसा करने के लिए यदि आप अपने संसाधनों की ओर नहीं लौटेंगे तो कहां लौटेंगे?

यह ठीक है कि जो भी नई तकनीक आ रही है उनमें से जो भी तकनीक आपको विकास लाने के लिए सही लगती है आप उसे अपना सकते हैं। अर्थात वैश्वीकरण के इस दौर में भी आप बहुत

सारी आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं और इसके बावजूद भी आपकी बहुत सारी चीजें बचीं रह सकती हैं। उत्तराखण्ड में 133 साल तक उपनिवेशवाद रहा। उसके बावजूद भी बहुत सारी अच्छी चीजें हमारे यहां बची हुई हैं। अभी भी हमारे सामुदायिक जीवन की बहुत सारी चीजें बची हुई हैं लेकिन सिर्फ एक पलायन ने हमें बहुत अधिक तोड़ दिया है। लेकिन यह वही पलायन है जिसने हमें बाकी देश से जोड़ा भी है। अगर आज पूरा राष्ट्र ही हमारा परिप्रेक्ष्य बना हुआ है और हमारे दिमाग में अपनी प्रादेशिक पहचान की बजाय पूरा भारतीय परिदृश्य छाया हुआ है तो उससे तो पलायन की बढ़ावा मिलेगा ही और इससे हमारे ग्रामीण समाज के ताने-बाने को भी आसानी से तोड़ा जा रहा है। इसलिए हमें पलायन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही स्वरूपों को देखने की जरूरत है।

विकेन्द्रीकृत विकास की खोज

डॉ. के.एन. भट्ट

कुछ मित्रों को विकेन्द्रीकरण के विचार से कुछ आपत्ति हो सकती है क्योंकि केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की बहस ने हिन्दुस्तान की विकास यात्रा को बहुत दर्द दिया है। इसलिए मैं इस विचार से कोई परहेज नहीं कर रहा हूँ। बस मैं इसके असली मतलब को समझना चाहता हूँ और उसे सामने लाना चाहता हूँ।

प्रश्न यह है कि हम जिन संसाधनों पर विकास करना चाहते हैं उन संसाधनों पर जाने की आवश्यकता ही नहीं है। जिस प्रकार प्रो. शेखर साब ने बताया कि इसमें मानव, हमारी संस्कृति, हमारे प्राकृतिक संसाधन और हमारी श्रम शक्ति भी है। तो हमें सोचना होगा कि उन संसाधनों को लोगों तक कैसे पहुंचाएं, लोकतंत्र की दिशा और दशा किस तरह से तय करें आदि यह बात केवल उत्तराखण्ड के संदर्भ में नहीं हो सकती। उत्तराखण्ड, हिन्दुस्तान संविधान का एक राज्य है। और वो उसी के आधार पर चलता है। इसलिए उसे संदर्भ में लिए बिना बात करने से शायद हमारी बात अधूरी रह सकती है।

जब कांग्रेस स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रही थी तो गांधी जी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने स्वीकार किया कि देश के सभी बड़े नेताओं को लगता था कि देश का विकास या सारी समस्याओं का हल यहां की ग्रामीण गणतंत्र में छिपा है। उस समय हमने एक स्वर में माना कि यह हमारी विकास यात्रा है और हम अपनी सामाजिक आर्थिक वास्तविकताओं के लिए लड़ रहे हैं। मूल स्वर था यह हमारी विकास की यात्रा का।

अब मैं 1950 की बात करूंगा जब हमारा संविधान लागू हुआ। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह हुआ कि जो संविधान कोर्ट में जो प्रादेशात्मक हिस्सा था वो एक चुनौती हो सकता है। हमारे

नीति-निर्माताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस मुद्दे को डालने की आवश्यकता नहीं समझी। राज्य स्तर से नीचे की सरकारों का गठन होना था उस मुद्दे के तहत, वो गौण हो गया। वो राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में लगा दिया गया। और हमने उससे ठीक उल्टी अर्थात् समुदाय विकास की बात शुरू की। तो देखिए कि ये कितनी विरोधाभास वाली स्थिति है कि जहां से समुदाय का विकास होना था आपने उसको संविधान के प्रादेशात्मक भाग में भी नहीं रखा।

जब विकास में सहयोग नदारद हो गया तो फिर उन्होंने बलवंत राय की अध्यक्षता में एक कमेटी बनायी और कहा कि हम सहयोग को कैसे विकसित करें ? क्योंकि हमने अपने योजना के मॉडल को उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर शुरू किया था। हम केन्द्र और राज्य स्तर में योजना बनाएंगे और निचले स्तर पर हमारे नौकरशाह उसे अमल में लाएंगे। क्योंकि संविधान में हमने उपराज्यीय स्तर की एन्टिरीज को तो बनाया ही नहीं। तो ऐसे में शासन कौन करेगा ? शासन केवल नौकरशाही करेगी, आज तक भी जब कोई सज्जन यह कहता है कि आप गांव में भी तानाशाह बना देना चाहते हैं तो बिल्कुल सही कहता है क्योंकि हमने ऐसा ही तंत्र खड़ा किया है जिसमें एक ओर नौकरशाही है तथा दूसरी ओर प्रतिनिधिमूलक प्रजातंत्र।

डिवोल्यूशन ऑफ पावर जिस अर्थ में स्वतंत्रता से पहले था उस रूप में आज तो नहीं कहा गया लेकिन अगर जनभागीदारी विकास की प्रक्रिया में सुनिश्चित करना है तो हमको स्थानीय स्तर पर पंचायतों का गठन करना पड़ेगा।

माफ कीजिएगा, यह पंचायत हमारी परिकल्पना का भाग नहीं है। पंचायत की परिकल्पना और इस पंचायत की स्थापना केवल इसलिए हुई थी कि ये पंचायतें केन्द्र से बने हुई योजनाओं को लागू करने में मदद करें। इसीलिए शंका होती है कि ये पंचायतें तो नौकरशाही की तरह ही बड़ा धोखा है।

1978 में पहली बार जनता सरकार ने अशोक मेहता कमेटी गठित की। पहली बार अशोक मेहता कमेटी ने रियल डिवोल्यूशन ऑफ पॉवर की बात कही थी। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि तब भी यह संविधान के रूप में अध्यादेश के भाग में नहीं आया। अभी भी यह व्यवस्था नीति-निर्देशक तत्त्वों के अंदर ही है। यह उनकी कृपा पर है कि अस्थायी स्तर पर सरकार शक्ति का विकेन्द्रीकरण करेगी या नहीं करेगी। सरकार में अस्थायी स्तर में एम.एल.एज. हैं वे सब राज्य स्तर पर सरकार का अस्तित्व बनेंगी या नहीं। नौकरशाही अपनी शक्ति को कभी भी बांटना नहीं चाहेगी। तो राज्यों में 1957 से अपने-अपने हिसाब से हमारे यहां पंचायतें बननी शुरू हुईं। हमारे यहां 77-78 में अशोक मेहता कमेटी के बाद भी वही क्रम चलता रहा। यहां पर मैं दो-तीन उदाहरण जरूर पेश करना चाहूंगा।

अशोक मेहता कमेटी के दृष्टिकोण में उस तरह की पंचायतें नहीं बन पायीं। लेकिन पहली बार पश्चिमी बंगाल में 1978 को पंचायतों की स्थापना हुई और वहां पर एक स्थायी भूमि सुधार का कार्यक्रम चला। आप सभी जानते हैं कि कृषि आधारित अर्थव्यवस्था वाले देश में जब तक भूमि सुधार नहीं होता जब तक गरीब के पास अपनी जमीन, अपने संसाधन नहीं होते वो तब तक जड़हीन है और तब तक विकास कार्यक्रमों का कोई अर्थ ही नहीं होता। हमारे यहां ये सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा कि भूदान के जमाने से आज तक कोई भी भू सुधार नहीं हुए। लेकिन किस्मत से पश्चिमी बंगाल में लेफ्ट फ्रंट सरकार जो पिछले 25 साल से आज भी वहां शासन कर रही है। उसने ऐसा प्रयास किया था शायद इसीलिए वो सरकार आज तक स्थिर भी बनी हुई है। लेकिन वहां भी हम जिस ग्रामीण गणतंत्र की परिकल्पना की बात कर रहे हैं, उस रूप में हमारी पंचायतें नहीं आ पा रही हैं।

दूसरा उदाहरण कर्नाटक का है। कर्नाटक में भी जनता दल 1985 में जब शासन में आयी थी तो उन्होंने शासन में आने से पहले 'जनता का शासन' का चुनावी नारा दिया था और ये वादा भी किया था कि वो ऐसा ही करेगी। उन्होंने इस वायदे को पूरा करने के लिए कुछ क्रांतिकारी

परिवर्तन लागू कर दिए। उस समय डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट से लेकर लगभग सभी लोग जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के अधीन हो गए। लेकिन यह सब ज्यादा दिन तक नहीं चला। लेकिन उस समय भी संवैधानिक सहयोग नहीं था और आज भी संविधान के प्रादेशात्मक भाग में वो अभी भी नहीं आया। तुरंत ही दूसरी सरकार के आने से वो प्रयोग तमिलनाडु के बाद आंध्र प्रदेश में भी खत्म हो गए। और उसके बाद जम्मू कश्मीर में भी यही प्रयोग हुआ लेकिन वो भी खत्म हो गया।

यह संदर्भ देने की बात है। मैं आपके सामने उस ऐतिहासिक अनुभव की बात करता हूं जो 1992 तथा बाद में 94 में हुआ। मैं, 1992 में हुए ऐतिहासिक सुधारों की बात करता हूं। 73-74 संवैधानिक सुधार एक्ट हिन्दुस्तान के संविधान के प्रादेशात्मक भाग में आया। मेरा मानना है कि हिन्दुस्तान के जनतंत्र के इतिहास में शायद यह सबसे ऐतिहासिक घटना है। इस संशोधन में कुछ खामियां हो सकती हैं लेकिन वह जिस स्प्रिट से आया उसे इस देश के लोगों की प्रशंसा की आवश्यकता है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि बिहार स्टेट का उदाहरण देकर मैं स्पष्ट करना चाहता हूं कि आप इसे कोर्ट में लड़ाई करके संवैधानिक रूप से लागू करा सकते हैं। वो आज 10 साल के बाद भी पंचायतों का चुनाव कराने की स्थिति में नहीं है। वहां एक राज्य को छोड़कर अन्य राज्यों में पूंजी स्थिति है। देयर आर मनी स्टेट्स लाइक दैट। जिसका मैं विस्तार से विवरण देना चाहता हूं।

क्या हम भी नये राज्य उत्तराखण्ड में कुछ ऐसा कर सकते हैं। लड़ाई बहुत कठिन है। नौकरशाही और प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था में जिन्हें 2 करोड़ रुपया एम.एल.ए. – एम.पी. फंड में मिल रहा है। इसमें मुझे आशा की किरण नजर आ रही है जब उत्तराखण्ड की जनता ने इतनी बड़ी लड़ाई लड़कर एक अलग राज्य ले लिया तो यदि हम संवैधानिक अस्त्र के साथ एक लड़ाई लड़ें तो हमें यह व्यवस्था प्राप्त हो सकती है। इसी मान्यता के साथ मैं इस बात को आगे ले जाना चाहता हूं।

मैं यह नहीं कहना चाह रहा हूँ कि कहीं कोई प्रयास नहीं हुए। मध्य प्रदेश ने थोड़े बहुत प्रयास किये हैं, मैंने जिन राज्यों के उदाहरण दिये हैं उनमें प्रयास हुए हैं, तमिलनाडु तथा कर्नाटक भी ऐसे ही प्रयास कर रहा है। लेकिन कुछ कारणों से मैं उन्हें एक सफल उदाहरण के रूप में नहीं मानता। मैं उत्तराखण्ड के मामले में आशान्वित हूँ कि हमारे वहाँ वो सामाजिक—आर्थिक विशेषताएं जीवंत रूप में मौजूद हैं जिस कारण इस तरह की सोशियो—इकोनॉमिक गुण जीवंतरूप में मौजूद हैं जिस कारण सरकार के विकेन्द्रीकृत रूप की आशा व्यक्त की जा सकती है।

1996 में जब केरल में पंचायती राज्य एक्ट भी नहीं बना था तब ई.एम.एस. नम्बूदरीवाद जैसे राजनीतिज्ञ ने एक घोषणा की। हम उनकी प्रशंसा करते हैं उनका पंचायती नियम वैसे ही थे जैसे कि बिहार, मध्य प्रदेश के हो सकते थे लेकिन फिर भी उन्होंने घोषणा की। मैं आपको एक चीज और याद दिलाना चाहता हूँ कि ई.एम.एस. नम्बूदरीबाद अशोक मेहता कमेटी के मेम्बर भी थे। उनकी समझ, उनकी मार्क्सिस्ट, लेफ्टिस्ट ट्रेनिंग के बावजूद अंततः गांधीयन बनकर वहाँ पर उन्होंने जो भी काम किया मैं उसे चिन्हित करना चाहता हूँ।

उन्होंने 96 में यह घोषणा की कि कुल अस्थायी बजट का 35 से 40 प्रतिशत हम सीधे—सीधे बिना किसी नौकरशाही नियंत्रण के पंचायतों को देंगे। यह जुलाई 96 की बात है। मार्च 97 तक उन्होंने वहाँ पर विकेन्द्रीकृत योजना के लिए योजना शुरू कर दी। इस घोषणा के परिणाम स्वरूप जो बजट, जो भीख नौकरशाही हमारी स्थानीय सरकार को देती है। आपकी नालियों को साफ करने के लिए, कहीं बल्ब फ्यूज है और दूसरा बदल देने के लिए। वहीं भीख—डोल्ल्स वहाँ भी मिलती थी, और उन डोल्ल्स के तहत पूरे स्टेट के बजट में से स्थानीय सरकार को 20 करोड़ रुपया मिलता था। इस घोषणा के बाद 97 में, यह राशि 1025 करोड़ रुपये हो गई। जो कि कानूनी तथा संवैधानिक रूप से तय भी हो गई कि ये राशि आपको देनी ही पड़ेगी। यहाँ पर दो भिन्न बातें हैं। इसमें दो प्रक्रियाएं साथ—साथ थी एक तो स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक संस्थानों को शामिल

करना और राजनैतिक शक्ति का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण। दूसरा है— स्थानीय योजनाओं के अभियान को विकसित करने के लिए अपनी जनता को तैयार करना।

अलगाव में कोई भी राज्य विकास नहीं कर सकता। गांव भी पृथक्करण में कभी विकसित नहीं हो सकते। यह बात हम इसलिए उठा रहे हैं कि यह वैश्वीकरण के साथ स्थानीयता की बात से उभरकर निकलता है। हम ग्लोबलाइजेशन के जमाने में उत्तराखण्ड की बात कर रहे हैं। मैंने जिस केन्द्रीकरण की बात की वो पिछले पचास साल की हमारी प्लानिंग रही है जिसके फेल्योर में हमको वैश्वीकरण के दरवाजे पर दस्तक मारने के लिए मजबूर किया है, ग्लोबलाइजेशन उसी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को आगे चलकर मजबूत करता है। अभी तक तो कम से कम देश की संपदा हमारे हाथों में तथा राज्य में रहती थी प्रदेश के स्तर पर रहती थी। लेकिन अब ग्लोबलाइजेशन की शक्ति आ गयी है। इसलिए हम इस बात पर निश्चित नहीं हैं कि हमारे पास कितनी संपदा रह गई है। यह आगे का केन्द्रीकरण है। यह बहुराष्ट्रीय कंपनियों का खेल है।

उत्तराखण्ड में एक और सम्बद्ध चीज है, मैं जिसपर रोशनी डालना चाहता हूं। जब केरल में जनता अभियान की शुरुआत की गई तो हमारे सामने जो सबसे बड़ी समस्या आई वो थी कि सारी जनता पंचायतों की इच्छा नहीं रखती थी। केरल का दर्द है कि वहां पर स्थित एक ग्राम सभा में कम से कम 15 से 20 हजार लोग आते हैं। अब 15-20 हजार लोगों को एक मंच पर लाना मजाक बात नहीं है। जबकि जो लोग यह समझते हैं कि पंचायत बहुत बेकार की चीज है। उन्होंने इसका एक उपाय निकाला उसमें उन्होंने बनी हुई वोटर लिस्ट को शब्दों के हिसाब से अलग-अलग बांट दिया और औसत रूप से जो शब्द 10 से 12 के बीच निकले और शब्दों के हिसाब से जनसंख्या 1500 से 2000 के बीच निकल रही थी। जो कि इन लोगों को किस तरह से गतिशील किया जाए की समस्या के रूप में सामने आयी। और पहले-पहले तो यह हाल होता था कि दो हजार लोगों में से 10-5 या 15 लोग आये। लेकिन जहां राजनैतिक इच्छा होती थी और जब लोगों को यह लगता है कि इससे मेरी खुद की इच्छा तय हो रही है तो लोग आगे आएंगे।

अर्थशास्त्र का बहुत पुराना नियम है कि बूचड़ की मर्जी से हमें मीट नहीं मिलता बल्कि उसमें उसकी खुद की इच्छा भी शामिल होती है। हम भाषण देकर किसी का विकास नहीं कर सकते। मेरे भाषण से उत्तराखण्ड में योजना नहीं आने वाली है। जिस दिन उत्तराखण्ड की जनता को यह लगेगा कि यह योजना मेरे हित में है तो उसमें सभी आदमी शामिल हो जाएंगे। केरल की जनता को यही लगा कि यह तो वह पंचायत है ही नहीं जिसकी हम बात करते हैं। इसमें तो मेरे सारे संपत्ति अधिकार छिपे हुए हैं। इसमें तो मेरा पूरा विकास छिपा है। और भी इस काम में और अधिक लोग जुड़ते जा रहे हैं।

इस उदाहरण के बाद मैं कुछ मुद्दों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं। केरल में इस प्रयोग के सफल होने के पीछे क्या कारण माना जाता है ? वो कारण हमारे यहां है कि नहीं ? मैं यहां पर हुए अध्ययन का कुछ जवाब देना चाहता हूं। उसमें सफलता के लिए कुछ तत्व जिम्मेदार हैं वो हैं— केरल पहला ऐसा राज्य है जहां पर शिक्षा 100 प्रतिशत है। सफलता का दूसरा अहम मुद्दा बहुत अधिक गरीबी केरल राज्य में कभी भी ऐसी स्थिति नहीं रही इसलिए ये दूसरा मुद्दा सफलता का मुद्दा है। वहां पर तीसरा मुद्दा बेहतर स्वास्थ्य और चिकित्सकी सेवाओं को मानते हैं। आप सब जानते हैं पूरे विश्व में केरल की नर्सें छाई हुई हैं। और कभी-कभी तो मुझे लगता है कि वे लोग लगभग पूरे हिन्दुस्तान के ही अस्पतालों की देखरेख कर रहे हैं। और इसी तरह से डाक्टर भी कर रहे हैं।

सबसे अहम जो मैंने भूमि सुधार के संबन्ध में पश्चिमी बंगाल का उदाहरण दिया उसी तरह से केरल में भी भूमि सुधार आज से नहीं बल्कि 1950 से बहुत ही अच्छे तरीके से हुए हैं। ई.एम.एस. नम्बूदरीवाद जैसे नेता, तब भी वहां थे वो पहली बार पचासवीं सदी में ही मुख्यमंत्री बन चुके थे। इस प्रकार इन नेताओं ने भूमि सुधार के लिए बहुत प्रयास किए और जिन-जिन क्षेत्रों में इन्होंने जोर दिया वहां भूमि सुधार बहुत ही अच्छे तरीके से हुए भी हैं।

अगला मुद्दा है बहुत अधिक मात्रा में संगठन कायम करने का। केरल साहित्य समाज में लेबर संगठन से लेकर जमीनी स्तर पर काम करने वाले महिला संगठन, सांस्कृतिक समुदाय, सामूहिक समाज के साथ केरल में स्थित श्रमदान का समाज। इस प्रयास के सफल होने का एक यह तत्व भी जिम्मेदार है।

अगला मुद्दा है कि सरकार ने शुरुआत से ही जो पुनः वितरण नीतियों को बेहतर किया मैं उसका एक उदाहरण पेश करना चाहता हूं। 1990 तक हिन्दुस्तान की आर्थिक वृद्धि दर ढाई से साढ़े तीन प्रतिशत रही। वहीं केरल वृद्धि दर डेढ़ से ढाई प्रतिशत के बीच घूमती रही। जीवन की तुलना में यूरोप, जापान की प्रत्याशा दर समाज को हैरान कर देने वाली है।

अब मैं उत्तरांचल में आना चाहता हूं। मैं दुबारा से वहां की साक्षरता दर के बारे में नहीं कहना क्योंकि उस बारे में शेखर जी आपको पहले ही बता चुके हैं। वहां कोई चालीस साल की महिला शायद ही अनपढ़ मिले। वहां 2001 में कुल साक्षरता दर 72.2 या 72.4, थी जिसमें 84.1 प्रतिशत पुरुष तथा 40.26 प्रतिशत महिला साक्षरता दर थी। इसकी सबसे अच्छी बात ये है कि 1999 में हमने पिथौरागढ़ में प्राथमिक शिक्षा के विषय में एक अध्ययन किया। उसमें ये निकला था कि अनुसूचित जाति के 96 प्रतिशत बच्चे स्कूल में पढ़ते हैं। और वहीं हमारे अध्ययन के अनुसार बिहार में यह दर 22 प्रतिशत है, उत्तर प्रदेश में 42 या 46 प्रतिशत है। वहीं उच्च जाति में यह संख्या 100 प्रतिशत थी। इस प्रकार अगली जनगणना तक हो सकता है कि हमारी साक्षरता दर 100 प्रतिशत तक पहुंच जाए।

अगला मुद्दा था गरीबी को दूर करना। ये बात सही है कि उत्तराखण्ड के समाज में बहुत अधिक गरीबी है। लेकिन वो गरीबी संसाधनों या अन्य चीजों के संदर्भ में है क्योंकि उत्तराखण्ड का गरीब से गरीब तबके के पास भी सिर छुपाने के लिए घर है।

हमारे उत्तराखण्ड में भूमि सुधार की बहुत अधिक जरूरत है। वहां निजी संपत्ति की बजाय भूमि सुधार की अधिक जरूरत है। जिस 8 प्रतिशत का जिक्र डाक्टर साहब ने किया उसकी जरूरत नहीं क्योंकि वो तो लोगों के पास पहले से ही है। वहां पर भूमि के पुनः वितरण की आवश्यकता है। जिसका प्रावधान 1973-74 संवैधानिक सुधार एक्ट के तहत 29 वस्तुएं स्थानांतरित होने हैं। जब स्टेट अपना पंचायत राज एक्ट बनाएगी, ग्रामस्वराज का एक्ट बनाएगी तो उसमें 66 प्रतिशत वन भूमि के लिए प्रावधान हो सकते हैं। सीधे रूप में यह साधारण संपत्ति अधिकार को वापस ला सकता है। तो जिस भूमि के मुद्दे पर सब निर्भर है जहां हमारे जंगल, पानी तथा हमारे वन संसाधन फलित हो रहे हैं वो भूमि हस्तांतरित हो सकती है जिस पर बहुत बड़ा खतरा मंडरा रहा है। और यदि ये अभी भी नहीं होता तो आने वाले दो-चार साल में कुछ बचने की संभावना कम ही है।

हमारे यहां बहुत से संगठन किस स्तर पर हैं। चाहे वो पत्रकार, महिला मंच, चाहे सांस्कृतिक दल, प्रवासी पहाड़ी ही क्यों न हों वे सभी मॉस संगठन में उपलब्ध होते हैं। हमारे पास आदर्श स्थिति मौजूद है। यहां मैं, संविधान संशोधन के 73वें-74वें सुधार के 26 वें विषय में जल, जंगल और जमीन तीनों को ही स्थानीय विषय के रूप में लिया गया है। जो कि इस सेमिनार का अहम मुद्दा है। इन तीनों विषयों की आम संपत्ति अधिकार को हम ग्रामीण सरकार को वापस कर सकते हैं।

सार ये है कि वर्तमान समय में मौजूद संविधान के प्रवधान के तहत उत्तराखण्ड के विकास का कोई दृष्टिकोण नजर नहीं आता। तो इसलिए हम विकेन्द्रीकरण की योजना के लिए हम दो स्तर पर काम करें। डिवाॅल्यूशन के लिए हमें लड़ना होगा नम्बर एक डिवाॅल्यूशन ऑफ पावर। वो करने के लिए हमें राज्य विधायिका से लड़ना होगा। दूसरा राज्य सरकार को को अपनी जनता के कामों को विकेन्द्रीकरण करने के लिए एक अभियान शुरू करना होगा।

सहभागी लोकतंत्र की चुनौतियां

राजेन्द्र धस्माना

एक आदर्श लोकतांत्रिक स्थिति उसी को कहेंगे जहां जनता और सरकार के बीच कोई दूरी न हो। सरकार को जनता की दहलीज पर जाकर उनकी मांगों को सुनना तथा उन्हें सुलझाना चाहिए। अगर ऐसा हो पाता है तो वो स्थिति लोकतंत्र है अन्यथा राजाशाही है। हमारे देश में लोकतंत्र की स्थिति सही नहीं हो पा रही है क्योंकि हमने 1947 को जो व्यवस्था चल रही थी उसमें बिना कोई बदलाव किए उसे वैसे के वैसे ही अपना लिया था। वो व्यवस्था केन्द्र को मिली, केन्द्र ने राज्य को दी। तो इस प्रकार हमारे पास व्यवस्था तो वही अंग्रजों वाली है लेकिन हम उसे वर्तमान लोकतंत्र की कल्पना कर रहे हैं तो वो कैसे संभव हो पाएगा उससे तो दुख ही मिलेगा।

एक उपाय के रूप में डाक्टर भट्ट ने 73-74 वें संविधान संशोधन की बात कही। पहली बात तो मैं अपनी तरफ से कहता हूँ कि आज गांधी के नाम पर पंचायत राज की बात की जा रही है लेकिन इसमें गांधी का अंश मात्र भी नहीं है। हम मानते हैं कि ये पंचायत संवैधानिक है। आपको एक संवैधानिक छाता दिया जाता है जिसके अनुसार आप कुछ बदलाव ला सकते हैं। पर गांधी ने पंचायत राज लाने की बात नहीं की थी। गांधी ने 1909 में कह दिया था कि आपने देश के लिए श्रेष्ठ मंत्री मॉडल तय किया है और अगर आप इसको तोड़ना चाहते हैं तो इस पंचायती राज को लाइए, जो मैं कर रहा हूँ। आप उनकी 1909 में छपी हिन्दू-स्वराज पढ़िए, उसमें उन्होंने साफ कहा है कि आज से 50-60 बाद समाज में कई बुराइयां आएंगी जैसे व्यभिचार, भ्रष्टाचार बढ़ेगा, लोग एक-दूसरे को लूटेंगे, व्यवस्था और कानून की समस्या आएगी तथा हो सकता है कि लोकतंत्र भी नष्ट प्रायः हो जाए। इसलिए उसे बचाने के लिए एक ऐसे पंचायत राज की जरूरत पड़ेगी, जिसके भिन्न आधार होंगे और इन संशोधनों से बिल्कुल फर्क होंगे।

जिसे आप विकेन्द्रीकरण कह रहे हैं वो तो केन्द्रीकरण के फैलाव की बात है उस केन्द्रीकरण को आप धीरे-धीरे गांव तक ले जाना चाहते हैं। नहीं तो बताइए क्या वजह है कि इन संसोधनों से बहुत कम चीजें ही प्रदेशात्मक हैं और ज्यादातर चीजें विद्यानसभा के हाथ में छोड़ दी गई हैं। ये कौन सा संविधान संशोधन अधिनियम है जिसमें कहा गया है कि चुनाव तो ठीक तिथि को हो जाने चाहिए। हमारी पी.यू.सी.एल. की रिट है। उत्तर प्रदेश की और हमारी संयुक्त रिट है जिसमें जिस दिन चुनाव नहीं हुए, ठीक उसी दिन सरकार को निरस्त कर देना चाहिए। 15 महीने हो गए हैं लेकिन ये रिट अभी तक दर्ज की हो रही है अर्थात् चल ही रही है। दो सरकारें बदल गयीं, दूसरी सरकार भी आ गयी। लेकिन संसोधन वाला भाग भी उतना प्रभावनी नहीं है। आप बताइए कि अगर आपने ईमानदारी से पंचायत राज पद्धति शुरू करनी थी तो इन अधिनियमों में, जो कार्य-विभाजन था, पंचायतों के पास गांव को देने के लिए 29 अधिकार हैं। 29 हैड्स है और साठ काम है, हरेक हैड्स में तीन-चार काम है। माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा और उसमें फिर कृषि है। व्यावसायिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा गांव को दी गयी है। विधान सभा और ग्राम पंचायतों को ग्यारहवीं सूची में अधिकार दिए गये है। नगर निकायों को 12वीं सूची में अधिकार दिये गये हैं। अब ये विधान सभा वाले कहते हैं कि अगर ग्यारहवीं सूची के अधिकार हम ग्राम सभाओं को दे देंगे तो ग्राम सभा वाले तो निपट गंवार है, वो इनको अमल ही नहीं कर पाएंगे। उनका कार्यान्वयन कैसे होगा।

ये कौन सा अधिनियम है जिसने ये अधिकार विधान सभा के हाथ में रखा। अगर आपने एक अधिनियम ही बनाना था तो आपने विधान सभा को ये अधिकार क्यों दिए कि वो अपनी मर्जी से जितने अधिकार देना चाहे दे दे। हम ये पूछना चाहते हैं कि जब पहली विधान सभा बनी थी तो क्या उनकी क्षमता का संवर्द्धन हो चुका था। क्या पहली विद्यानसभा वाले इतने क्षमतावान थे कि उनको सारे अधिकार एकमुश्त दे दिए गये और गांव वालों को नहीं दिए जाएंगे। क्या जिस दिन पहली संसद आयी थी उनके बारे में सोचा गया था कि उनको अधिकार एकमुश्त न दिए जाकर

एक-एक कर दिए जाएं। मतलब सभी लोग जनता से आ रहे हैं विधानसभा में जा रहे हैं, लोकसभा में जा रहे हैं। सब चुन के जाएंगे, ये एक नंबर है।

नम्बर दो, लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए जो सबसे अहम मुद्दा है 'जनता की भागीदारी'। जनता की भागीदारी दो तरह से हो सकती है। जनता की भागीदारी आजादी के लगभग 10-12 साल बाद लगभग हर जगह से गायब हो चुकी है। और जो वनों में हस्तक्षेप हुआ है इसमें भी जनता की भागीदारी खत्म ही होगी। ये जो सारे फरेब रचे जा रहे हैं, जे.एफ.एम. हो, कोई भी चीज केन्द्रीकरण को ध्यान में रखकर अमल में लायी जा रही है। आप ये कह रहे हैं कि ग्राम सभा और ग्राम पंचायत में अंतर ही नहीं होगा। यानी प्रधान, पंच, सरपंच एक ही जैसे होंगे। आपने किस तरह का स्वरूप बनाया है कि ग्राम सभा से जो आदमी चुना जाता है, वो पंच और वार्ड के मेम्बर्स होते हैं उनको भी वही अधिकार हैं और जो गांव से चुनकर जिले में जाते हैं उनके भी वही अधिकार हैं। वो लोग भी योजना बनाते हैं और गांव वाले भी योजना बनाते हैं और वो आपस में टकरा जाते हैं। अब वो कहता है कि मैं बड़ा हूं, मैं जिले में हूं तुम गांव में हो, ये बड़े-छोटे का झगड़ा कुछ नहीं होता है। एम.एल.ए. आता है दोनों के प्लान रद्द करके अपना प्लान रख देता है। जो विधायक निधि तथा सांसद निधि है, उन दोनों को जो वार्षिक खर्चा मिलता है उससे बड़ी है। और ये उन्ही आधारों पर दी जाती है जिन पर ग्राम पंचायत को दिया जाना है, जिन पर विधान सभा को पैसा दिया जाता है इस प्रकार से आधार वही के वही हैं।

अगर आप ग्राम सभा को भी पंचायत बना देंगे तो फिर जनता अर्थात् जनरल बॉडी की भागीदारी कहां पर है? तो जनता कहां भागीदारी करेगी वो तो सरकार बन गयी आपके आंगन तक, आपके किचन तक तो सरकार बन गयी है। अब आपके दिल्ली से, विधान सभा से लेकर गांवों तक एक सरकार का स्वरूप आ गया और उस स्वरूप में आप ये सोचें कि ये लोकतंत्र बड़ा भारी फल देगा तो वो जनता कहां पर है। वो जनता तीनों को चुनती है वो जनता आपने अलग से कहां पर रखी

है। आपने उसमें सारे को ही समेट लिया। तो ग्राम सभा के पंचायत राज की जो मुख्य इकाई थी उसको अलग रखना चाहिए था।

गांधी ने जो पंचायत राज रखा था वो बहुत ही अलग था। मैं बात कर रहा था कि जब तक जनता किसी भी परियोजना में भागीदारी के बगैर काम करती है या वो किसी भी नीति में भागीदारी न करती हो तो वो स्थिति बहुत खराब होगी पंचायती राज को सफल बनाने के लिए जमीन से जुड़ी सोच को ऊपर उठाया जाए। अपने लिए खुद ही योजना बनाए और उच्च स्तर पर जाकर उसके बारे में विचार-विमर्श हो। जब आप व्यवहारिक रूप से देखें तो हमारी सरकार ने पंचायती राज एक्ट में छोटे-छोटे से तीन संसोधन किए हैं जबकि वहीं अन्य लोग उनको नहीं चाहते हैं।

यदि आप यू.पी. और बिहार से हमारे प्रदेश में पंचायत राज एक्ट लाना चाहते हैं तो उन्हें कौन सा पंचायत राज लाना चाहिए। वो तो अपनी मर्जी का ही पंचायती राज ला रहे हैं अर्थात् आपका जो दिल करे उसे दे दो और बाकी को छोड़ दो। ऐसा वर्षों तक होता रहेगा व्यवहारिक रूप से ये जरूरी नहीं कि ये सब होता ही रहेगा लेकिन जनता को समझाकर, उन्हें एकजुट कर तथा आंदोलनों के जरिए इस सब को दूर किया जा सकता है।

और दूसरी बात ये कि अन्य प्रदेशों में जो खूबियां हैं उनमें से कुछ हमारे यहां नहीं हैं। हमारे यहां जो जिले बने हैं बड़ी अंधी दौड़ में बने हैं। अगर किसी जिले में ज्यादा जनजाति के लोग होते हों तो वहां 96 संसोधन एक्ट के नाम से एक एक्ट है। जो अनुसूचित क्षेत्र कानून है उसके लाभ प्रत्यक्ष रूप से मिल सकते थे तब हमारे यहां कोई ऐसा जिला बना ही नहीं। अब जब बनाने की बात आयी तो उन्होंने कहा यदि आप ऐसे जिले बनाओगे तो यह हमारे दूसरे अधिकार ले लेंगे। तो इन सब बातों को जनता तक पहुंचाना है। हम उनको कब तक सचेत कर सकते हैं और उन्हें ये सब बातें कब तक समझा सकते हैं ये सोचने की बात है।

इसके अलावा जो लोग जनतंत्र की बात करते हैं उन्हें टिहरी डैम का उदाहरण देखना चाहिए। वहां बांध बनाने के लिए 3 हजार करोड़ रुपये बजट वाली एक परियोजना बनी। उसी बजट में पुनर्वास पर भी 582 करोड़ रुपए खर्च करने का बजट तय हुआ। इससे स्पष्ट है कि ईंट, गारे, सीमेंट, निर्माण कार्य, मशीनों आदि की तुलना में आदमी की कीमत कम है। आदमी अपनी जमीन-जायदाद, अपनी संस्कृति सारा कारोबार छोड़कर कहीं दो कमरों के मकान में घुसा दिया जाएगा तो क्या ये पुनर्वास हो जाएगा? वो बजट बढ़ते-बढ़ते कई गुना बढ़ गया है अर्थात् जो बजट तीन हजार करोड़ में बन रहा था वो पैसे तो कभी के खर्च हो गए। अब जो बजट बढ़ा है वो पुनर्वास की अपेक्षा निर्माण कार्य का बढ़ा है। उन्होंने निर्माण के बजट को कई गुना बढ़ा दिया है और पुनर्वास पर खर्च करने के लिए जो 582 करोड़ रुपये रखे गये थे उसमें से मात्र 94 करोड़ रुपये ही पुनर्वास पर खर्च किये गये। बाकी का सारा सरकार ने अपने भवनों पर, अपने कर्मचारियों और संस्थानों आदि पर खर्च कर दिया गया। तो 94 करोड़ रुपए के बाद भूमि अधिग्रहण नहीं हुई है। उनको यही कहा जाएगा कि आपकी जमीन हमने अधिग्रहित कर दी है, और इसमें आपको क्या आपत्ति? जब वे जमीन और मकान आदि सभी डूब जाएंगे तब वे (सरकार या अन्य संगठन) कुछ करेंगे भी तो उसका कुछ अर्थ ही नहीं रह जाएगा। तो इस प्रकार आज हमारे लोकतंत्र की यही स्थिति है।

टनल 3 और 4 बंद कर दिया गया। क्यों बंद कर दिया? उसमें क्या बिजली बननी है? क्या टरबाइन लग चुके हैं? क्या पावर हाउस बन चुका है? दूसरा टरबाइन लग रहा है। टरबाइन हांग-कांग से आ रहे हैं। दूसरा टरबाइन अभी लगाया जा रहा है और 8 टरबाइन लगने हैं। और दूसरा टरबाइन अभी लगने ही जा रहा था कि वो बंद कर दिया गया। 2 टनल तो बंद कर दिये, दो बाकी रह गये हैं एक और दो। दो टनल बंद कर उसका स्तर बढ़ गया, तो लोगों को बताइए कि क्या है ये? इसकी क्या वजह थी? वजह यह थी कि उनपर ध्यान दिया गया कि जून 15 तक सारा शहर खाली कर दीजिए, क्योंकि पानी बढ़ जाएगा। वजह ये थी कि अगर 18 जुलाई तक

शहर खाली हो जाए तो उनको मुआवजा नहीं देना पड़ता, उन लोगों को जो 76 के बाद बालिग हो गये, ये हनुमंत राव कमेटी की रिपोर्ट है। हनुमंत राव कमेटी की एक भी सिफारिश को ये लोकतंत्र की सरकार नहीं मानी। ये परियोजना आपके केन्द्र की है और उसमें हमारी सरकार को बंदोबस्त करना है तो दोनों सरकारें लोकतंत्र की है और दोनों इसमें शामिल हैं। इसलिए भाग लोग भाग जाएंगे, इधर-उधर चले जाएंगे तो उनको पुनर्वास में दिखा दिया जाएगा। जो लोग दिल्ली में आज से 20 साल पहले आये थे वे इधर-उधर चले गये। सारे पैसे को उनके पुनर्वास में भी लिख दिया गया है। एक गांव जिसकी सारी जमीन डूब जाएगी, सिर्फ मकान बच जाएगा उसको पुनर्वास में शामिल नहीं किया गया है। असैना गांव के एक अनुसूचित जाति को कहा कि तुम ऊपर के गांव में चले जाओ वहां टिनशेड बना रखे हैं। टिनशेड में जाते ही उनको कहा गया कि अब तुम्हारा असैना गांव में कोई अधिकार नहीं रहा अब तुम पुनर्वासित हो चुके हो।

नयी और पुरानी टिहरी के बीच जो टिनशेड बनाये गये थे उसमें ठेकेदार के आदमी रहते हैं। बकायदा उनको एलॉट हो चुके हैं। टिहरी आधे से ज्यादा कोई पुनर्वासित लोगों के लिए नहीं है। अभी तक उसमें बहुत कम लोग हैं। उसमें ज्यादातर सरकारी कर्मचारी रहते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने अपने एक फैसले में कह दिया है कि सबसे अच्छा पुनर्वास तो टिहरी में हुआ है। इसलिए कि हनुमंत राव कमेटी की रिपोर्ट ने लिखा है 18 साल का जो वयस्क होगा उसको अलग परिवार माना जाएगा। वो नहीं माना गया। उन्होंने सरदार सरोवर में मान लिया। और टिहरी वालों के लिए ये प्रचारित कर दिया गया। पहली बात तो उन्होंने 18 साल की उम्र ही नहीं मानी। उन्होंने कहा कि वोट तो आप 21 साल में देते हो, वयस्क कैसे मान लें आपको। 21 साल में भी उनको अलग से परिवार नहीं माना गया, बल्कि अगर किसी के तीन लड़के हैं और तीन के भी माना तीन लड़के हों, तो जितने भी हों उनको एक ही मकान मिलेगा।

दूसरी बात ये है कि सरकार के आदेश आ गये हैं। जंगलों से सारा अतिक्रमण हटा दिया जाएगा। जो लोग जंगलों में रहते हैं वो लोग जंगलों में नहीं रहेंगे। इस तरह से तो हमारे 35 हजार लोग

तो वो हैं जो जंगलों के ऊपर निर्भर करते थे। वन और जन की एक दूसरे के ऊपर आश्रित रहने की जो जीवन शैली थी वो तो कब की खत्म कर दी। थोड़ी बहुत भी जो शेष रह गयी थी वो हमारी सरकार ने आजादी के बाद, जो लोकतंत्र आया उसकी भी हत्या कर दी गई। इसके अलावा अभी एक नोटिस आया है जिसमें सबको खाली करने का नोटिस भी दे दिया गया है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने एक कनाडा की फर्म 'पीबल क्रीक' से एक समझौता किया कि आपको अस्कोट में 4-5 धातुएं मिल रही हैं। उसका खादान आप ले लीजिए। और उस समझौते में ये भी कहा गया कि अगर वो हिस्सा कभी नया राज्य बनने के बाद उसमें चला गया तो उन पर समझ का ये ज्ञापन पत्र (मैमोरेण्डम ऑफ अंडरस्टैंडिंग) लागू होगा। ये सब बातें राज्य बनने से पहले ही तय हो गई तो देखिए कि ये कैसा लोकतंत्र था ? हम अभी दूनागिरी में गये, दूनागिरी की ऊंचाई कितनी है? अगर इतने बड़े पहाड़ आप गिरा देंगे तो फिर आपके पास रहेगा क्या? आप लोकतंत्र की बात कर रहे हैं। सुबह सांस्कृतिक लोकतंत्र की बात भी की गई, अब आप पारिस्थितिकीय लोकतंत्र की बात भी करेंगे तो आप ही बताइए कि जब इस तरह के समझौते हो रहे हों तो ये बातें कहां पर टिकेंगी ?

विकास पुरुष एन.डी. तिवारी जो हमारे मुख्यमंत्री बने हैं, वो कहते हैं यहां का विकास बहुत ही जल्दी कर दिया जाएगा। रोजगार दे देंगे और कई चीजें दे देंगे। पर वे ये सब देंगे कहां से? अभी तक आप ये कह रहे थे विकास के लिए तकनीकी और संसाधनों का कुछ न कुछ महत्व होता है। दुनिया के वैज्ञानिकों ने 13 साल के शोध से 1996 में जो दृष्टिकोण 2020 दिया, उसमें उन्होंने कहा कि अगर एक प्रॉपर टेक्नोलॉजी आपके हाथ में हो तो आपका विकास हो सकता है। आप ये देखिए जापान ने बिना रिसोर्सज के तरक्की कर दी। मुरादाबाद ने भी बिना पीतल के, पीतल के कारखाने बना दिए। शहडोल में ऊन नहीं होती लेकिन ऊन का सबसे बड़ा केन्द्र शहडोल मध्य प्रदेश में है। आई.टी. में कौन से रिसोर्सज थे। उसकी तरफ भी बुटोला साहब का

एक हिन्ट था। उन्होंने क्लियर नहीं किया कि बिना रिसोर्सज के भी विकास हो सकता है। लेकिन यह आम बात नहीं है कि बिना रिसोर्सज के आप तरक्की कर सकें।

किस लोकतंत्र की बात कर रहे हैं आप। 2000 का जो राज्य पुनर्गठन अधिनियम है, जिससे राज्य बना हमारा, उसमें 26 विसंगतियां हैं। उसमें पानी के ऊपर आपका हक नहीं है। ये कहा गया है कि अब तक की आपकी जो योजनाएं हैं, बिजली की जो योजनाएं बनी हैं उनमें जितना भी उत्पादन होगा, उसमें 35 या 37 पैसे आपकी उत्पादन लागत है। इसमें सारी बिजली यू.पी. खरीदेगा और आप उससे डेढ़ रुपये में खरीदेंगे। फिर आप उसे ढाई रुपये या साढ़े तीन रुपये में बेचेंगे। इसमें ये आपके समझौते हैं। और नयी योजना पानी की आपको बनानी हो तो आपको उत्तर प्रदेश से पूछना पड़ेगा। अगर विवाद हो जाए तो केन्द्र मध्यस्थता करेगा। तब आपकी कोई परियोजना आगे चलेगी। तो इन संसाधनों पर आपका हक ही नहीं है। आप पहले इन एनामलीज को दूर करिए।

आप विकास पुरुष हैं, ठीक है। आपको अभी साढ़े चौहद सौ करोड़ रुपये का बजट मिला। जबकि आपने 1750 करोड़ मांगा था, लेकिन वो आपको नहीं मिला आखिर क्यों ? परिसंपत्तियों का वितरण नहीं हुआ है। यू.पी. वाले ले गये सारा बजट। टिहरी का जो डैम है उसमें भी ये है कि आपको 12.50 प्रतिशत रॉयल्टी मिलेगी। रॉयल्टी कहां से मिलेगी जब मालिक वो (यू.पी.) है। जब सारी ही बिजली वो ले लेगा तो रॉयल्टी कहां से देगा। तो जब तक इन विसंगतियों को दूर नहीं करते, जब तक परिसंपत्तियों का पूरा बंटवारा नहीं करते, आप विकास का नारा नहीं दे सकते। आप वर्ल्ड बैंक से अरबों का कर्ज लेकर हमें बेच देंगे, हमारे वनों और जमीन को बेच देंगे, हमें घर से बाहर कर देंगे, पर हमारा विकास नहीं कर सकते। कोई अवधारणा बताइए विकास की, जो जमीन से जुड़ी हुई हो, जो बॉटम-अप हो, जो नीति में लोगों को शामिल करती हो। सोचने से लेकर कार्यान्वयन तक, उसके प्रबंधन तथा बंटवारे तक अगर लोग उसमें शामिल हो तो कोई बता दीजिए। कोई योजना आपके पास नहीं है। अभी तक नीति ही नहीं बना पा रहे हैं।

आप सारे उत्तर भारत को आप जल देते हैं लेकिन आप 15 रुपये की बोतल खरीदते हैं बसों में जाकर वहां। अभी कुछ दिनों में देखिए इसके अलावा कुछ मिलेगा ही नहीं कहीं। उसका राजस्व हमारी सरकार को नहीं मिलता है, पता नहीं किसको जाता है। कांवडिये पता नहीं कितना टनों पानी ले आते हैं उसका राजस्व नहीं लगता।

90 प्रतिशत संविधान ब्रिटिश का बनाया हुआ है। 1919 का एक्ट है, जो कि 1935 में रिवाइज हुआ था। उसके बाद 1945 में जो कमीशन आया और 46 में जो कैबिनेट मिशन आया, उन दोनों मिशनों ने कुछ नहीं किया। सेना आदि के बारे में ये तय नहीं हो पाया कि क्या करें, क्योंकि डोमेनियन स्टेट्स देना था, आजादी नहीं देनी थी 'चर्चिल' ने। ये आजादी तो आपको 'एटली' ने दी है जब चर्चिल आ गया तब। तो संविधान का जितना ढांचा बना वो सब अंग्रेजों ने बनाया था। पहले ही ये सब तय हो गया था कि पश्चिम के बगैर भारत का काम चलना ही नहीं चाहिए। जिस संविधान का आप नाम लेते हैं जिसके 1860 से लेकर जितने भी नियम हैं 1947 से पहले के हैं। अभी तक सन भी नहीं बदले हैं उनके। उन नियमों पर आप चल रहे हैं। आपकी संस्थाओं का रजिस्ट्रेशन भी 1860 के एक्ट में ही होता है। गुलामी के जमाने का वो नियम जिसमें शब्द भी नहीं बदले।

अगर आप संविधान के भरोसे रहें तो आप केवल सिविल और पॉलिटिकल राइट्स पर अपना जस्टिस ले सकते हैं, शेष किसी बात पर संविधान आपकी मदद करने को तैयार नहीं है। अगर आपके सिविल और पॉलिटिकल राइट्स घपले में पड़ गये तो आप संविधान के भाग तीन में मौलिक अधिकार के अंदर कोर्ट में जा सकते हैं। पर जितने भी निर्देशित सिद्धांत हैं, डॉ. भट्ट अभी कह रहे थे 44 के करीब है, जिसमें 44 विषय आते हैं। जो विस्तृत हैं। जो कि देश की तरक्की के लिए सबसे ज्यादा अहम है। जो तरक्की होनी थी इन्ही प्रिंसीपल्स के तहत होनी थी, इन्ही निर्देशक सिद्धांतों के अंदर होनी थी, इनमें आप कोर्ट भी नहीं जा सकते। ये कहा गया कि हम

बहुत जल्दी ऐसे कानून बनाएंगे, जो कि इन सिद्धांतों को कानूनी जामा पहनाकर लोगों को ऐसे अधिकार देंगे कि वे अपने अधिकार प्राप्त कर सकें, नहीं किया।

जब से आप डब्ल्यू.टी.ओ. के सदस्य बने हैं, डब्ल्यू.टी.ओ. ने कहा है कि प्रत्येक देश, जो सदस्य बनेगा उन्हीं के अनुसार, चलेगा। चाहे कृषि हो, चाहे शिक्षा हो, कोई भी चीज हो हमारे अनुसार कानून बनाने पड़ेंगे। जब आप डब्ल्यू.टी.ओ. के मुताबिक कानून या नीति बनाएंगे तो आपके निर्देशित सिद्धांत गये भाड़ में। ये माना जा रहा है कि प्रत्येक देश अगर डब्ल्यू.टी.ओ. का सदस्य बन जाएगा तो आपकी ज्यादा तादाद होगी। क्योंकि डेवलपिंग नेशन्स ज्यादा है। यू.एन.ओ. में क्या हुआ आपके, यू.एन.ओ. में भी आप ज्यादा थे। पांच आदमी आ गये वीटो लेकर डब्ल्यू.टी.ओ. में भी। 5-6 देश इकोनॉमिक सिक्योरिटी काउंसिल बनाकर आने वाले हैं। वहां भी आपको कुछ नहीं मिलने वाला है। ये जो लोकतंत्र की बात कर रहे हैं इस लोकतंत्र को सिर्फ जनता बचा सकती है। हम लोग बचा सकते हैं, बशर्ते कि हम जनता को बताएं।

पंचायत राज के बारे में आज तक जितनी भी बहसें हुई है, वो सब शहरों में, कस्बों में हुई हैं, गांवों में एक नहीं हुई है। किसी बहस में कोई सरपंच-पंच नहीं आता। उनको अभी तक न अपने एक्ट पता है, न अधिकार पता है, न ये पता है कि क्यों होता है, क्या होता है? एम.एल.ए. को तनख्वाह मिलती है। सांसदों को तनख्वाह मिलती है। भत्ते मिलते हैं। गाड़ी में, हवाई जहाज में सफर कर सकते हैं। उसको दो पैसे नहीं मिलते हैं। एक सरपंच है उसके घर में अगर 20 मेहमान आ जाएं तो उसके लिए ये एलाउन्सेज नहीं है। तो उसको जो ऊपर से पैसा जाता है, तो 2 लाख में से 20 हजार उनके पल्ले पड़ते हैं, उसको खा जाते हैं वो लोग और क्या करें। एक मंत्री जाएगा उसके लिए दही मंगानी है, हेलीकॉप्टर जाएगा। दही में ही खर्च हो जाता है। वो कहां से करेगा इतनी ईमानदारी, न उसके पास पैसा है, न भत्ते है, न कार्य विभाजन है। न आपस में कोई को-आर्डिनेशन है। किसी भी तरह के अधिकार नहीं है। उसको यही समझा जाता है कि

गंवार है, मूर्ख है, इसकी क्षमता नहीं है। इसकी क्षमता का संवर्द्धन नहीं हुआ, बाकी सब विधायकों का हो गया। जैसे इन विधायकों में पहले से क्षमता है। जन्मजात इनमें क्षमता है।

इनके न्यायालय हैं प्रशासनिक न्यायालय हैं। हाइकोर्ट का स्तर है इनका। इसमें एक भी आदमी कानूनी पृष्ठभूमि का जज नहीं बैठता। उसमें सब सेवानिवृति सचिव बैठते हैं। एक की भी कानूनी पृष्ठभूमि नहीं है। जो मजिस्ट्रेट आपके जिलों में हैं, जो सेशनस जज बनते हैं, कोई कानूनी इम्तहान पास करके नहीं आता है। वो न्याय देते हैं और वो माना जाता है। ये तो जजमेंट सीट ऑफ विक्रमादित्य है। जो कहानी हमने बारहवीं क्लास में पढ़ी थी कभी, उस सीट पर जो बैठेगा न्याय ही करेगा।

सबसे बड़ा डर ये है कि ग्राम पंचायतें अपनी न्याय व्यवस्था बनाएंगी, अपनी प्रशासन व्यवस्था होगी इनकी तो जिलाधिकारी क्या करेगा, कलक्टर क्या करेगा! मध्य प्रदेश के उदाहरण इसीलिए असफल है कि ऊपर से नीचे की तरफ टपकाया गया है। मुख्य मंत्री की एक समिति बनी है, ऊपर से जिले स्तर पर जाकर अटक गये। और वो भी मकसद ये था कि कांग्रेस को मजबूत कैसे किया जाए। जिले स्तर से नीचे नहीं जा पायी पंचायत, ये करतूत है इनकी। पंचायतें हमेशा बॉटम-अप होती हैं, नीचे से ऊपर आएंगी। ऊपर से नीचे नहीं जा सकती। केरला का भी उदाहरण है। केरला को पांच साल लगे और चौथे साल उसने ऐलान किया कि मेरी 25 पंचायतों को दुनिया में कहीं भी खड़ा करके तुलना कर लो। पर ये तुलना की बात ही नहीं थी। पहली बात है कि लोकतंत्र में जो जनरल बॉडी है वो जनता है। जनता को अगर आप नहीं बताएंगे, गांव वालों को तो आप बता नहीं रहे हैं, शहर में बता रहे हैं। आप मुझे बता रहे हैं, मैं आपको बता रहा हूँ। तो इससे काम नहीं चलने वाला। जनता को तो इलेक्शन के दिनों में भी नहीं बताते कुछ, अब क्या करें बेचारे।

सुबह से कर्म संस्कृति की बात आयी। संस्कृति तथा सभ्यता की बात आयी। संस्कृति आंतरिक रूप होता है और सभ्यता उसका बाहरी रूप होता है। सभ्यता काम और अर्थ से जुड़ी होती है। काम का मतलब कि यौवन में जो भी प्रसाधन है, सौन्दर्य अच्छा है, फैशन है अच्छे कपड़े पहनने हैं, कार लेनी है; भोग करना है ये सब। जो सभ्यता होती है उसका बाहरी आवरण है वो। जो धर्म और मोक्ष से जुड़ी है। ये पुरानी टर्मिनोलाजी है इसलिए आपको पसन्द नहीं आयेगी। इसको इस तरह से समझिए जो लिबरेशन से जुड़ी है, जैसे शिक्षा है वो लिबरेट करती है आपको। जो धर्म की बजाय ड्यूटी से जुड़ी हुई हो। वो संस्कृति सारे देश की एक ही होती है। और जो सभ्यता होती है वो जगह-जगह अलग-अलग होती है। क्योंकि जीवन पद्धतियां अलग होती हैं। तो जब हम कहते हैं किसी क्षेत्र विशेष का विकास करना हो तो उसमें कल्चरल इनपुट होना चाहिए। वो इनपुट ये नहीं होता कि उसमें गाने कैसे गाते हैं, नाचते कैसे हैं। कविताएं कैसी हैं। ये कल्चर का स्वरूप नहीं है। कल्चरल इनपुट का मतलब होता है कि वो रोजमर्रा की ज़रूरतें कैसे पूरी करते हैं, क्या पहनते हैं। कैसे खाते हैं, कैसे हल चलाते हैं, हल कौन चलाता है, मेहनत कौन करता है, कैसे खाने को पैदा करते हैं, विवाह संस्थान कैसा है, परिवार में कितने लोग हैं, ज्वाइंट फैमिली है या नहीं है। ये हर एक नदी-घाटी में अलग-अलग हैं।

उत्तराखण्ड एक मिनी भारत है। जो कि हर नदी-घाटी में एक दूसरे से बिल्कुल मेल नहीं खाता। अगर आप गोरी नदी से टौंस की तुलना करोगे तो, दोनों जगह जनजातियां हैं मगर दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। विवाह संस्थान अलग हैं, परिवार संस्थान अलग हैं। 94 आदमियों का एक परिवार है टौंस में। गोरी में नहीं है ये। इसलिए वहां की सारी योजनाएं गांव वाला कर सकता है। एक कमरे में बैठकर कोई प्रतिनिधि नहीं कर सकते। कोई डिप्टी चेयरमैन या चेयरमैन नहीं कर सकते।

ये जो योजना आयोग है, ये एक वितरण एजेंसी है। आप हर साल फण्ड बांट देते हैं। बाकी आप वहां बैठकर क्या करते हैं ? आप क्या देश का अध्ययन करते हैं? ऐसे हमारे उत्तराखण्ड का भला

नहीं हो सकता। उत्तराखण्ड की अगर कभी भी योजना होगी तो गांव वाला करे। आप कौन होते हैं ऊपर बहस करने वाले। हम इस संविधान को बहुत बड़ा धर्मग्रन्थ नहीं मानते, बार-बार बदलता है। अभी 6 बार और बदल जाएगा।

डॉक्टर भट्ट ने प्रतिनिधिमूलक सरकार कहा, सही बात है। जनता मूलक होना चाहिए सरकार को। प्रतिनिधिमूलक कैसे हो सकती है। प्रतिनिधि तो एक घर बनाना है, उसे मेन्टेन करना है, इसलिए है। अगर सरकार जनता के बारे में कुछ नहीं सोचती तो फिर सरकार कैसे है। इसलिए अगर गांव में जाकर चेतना फैला सकें तो दो दिन में सरकार बदल जाती है।

जन आंदोलनों का परिदृश्य

पी.सी. तिवारी

उत्तराखण्ड में लोकतंत्र की दशा और दिशा पर हमें बात करनी है। लोकतंत्र की दशा उत्तराखण्ड में कोई भारत से अलग नहीं है। लेकिन लम्बे जन आंदोलनों में और खासतौर पर उत्तराखण्ड के आंदोलन में हम लोगों की कुछ अपेक्षाएं बढ़ी थीं। कुछ सपने हम लोगों ने देख लिए थे कि एक राज्य होगा जिसमें राज्य के संसाधनों में हमारी भारी भागीदारी होगी, उसकी नीतियां जनता की अपेक्षाओं के अनुरूप बनेंगी। जल, जंगल, शराब, और शासन जनता के हितों के अनुरूप काम करेगा आदि। और उन्हीं सपनों को लेकर उत्तराखण्ड की पूरी आबादी उस आंदोलन में कूदी थी।

उत्तराखण्ड राज्य जब बना उससे पहले ही ये सवाल भी खड़े हो गये थे कि कैसा राज्य होना चाहिए। इस पर उत्तराखण्ड में काफी मंथन था। बातें थी कि आपका कैसा राज्य हो, आबकारी नीति ऐसी होनी चाहिए, जंगल की नीति ऐसी होनी चाहिए, तराई में भूमि की नीति ऐसी हो आदि सारे सवाल उठने शुरू हो गये थे। मुझे याद है जब 8 नवम्बर को उत्तराखण्ड राज्य बन रहा था उस समय राज्य में मुख्यमंत्री ने शपथ ली थी। तो 7 नवम्बर को हमने देहरादून में खबरदार रैली निकाली थी। उस खबरदार रैली के माध्यम से हमने कहा था कि राज्य कैसा बनना चाहिए, राज्य के मंत्रियों का आचरण कैसा होना चाहिए आदि वो काफी छपा भी, लेकिन कुछ असर नहीं हुआ और आज उत्तराखण्ड की स्थिति पूरी तरह से निराशाजनक है। करीब पौने दो सालों में उत्तराखण्ड आंदोलन के दौरान जो सपने देखे गये थे वो सपने आज धूमिल हो गये हैं। हमारे शासन, प्रशासन और नेताओं ने उत्तराखण्ड को पूरी तरह उत्तर प्रदेश की कार्बन कॉपी बना दिया है।

आज अगर आप उत्तराखण्ड में घूमें, बात करें तो आपको लगेगा जो उत्तराखण्ड आंदोलन की चेतना थी वो आज लोगों के बीच निराशाजनक रूप में है। तो कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि उत्तराखण्ड की जो दशा है वो आज बहुत खराब है। मैं आंदोलन का एक उदाहरण देता हूँ—

..... अभी अल्मोड़ा में एक आंदोलन चल रहा था। भैंसोड़ा गांव के मजदूरों के बीच 20 से 25 सालों से वे लगातार वहां पर काम करते हैं। उनको नौकरी से हटा दिया गया। वहां के मंत्री प्रसाद मैथानी जी थे उनसे हमारी बात हुई थी वो खुद अल्मोड़ा आये थे। उन्होंने डेढ़ महीने पहले कहा कि मैंने इनको काम पर वापस लेने का आदेश कर दिया है और डेढ़ महीने वो बैठे रहे। 15 अगस्त को हमने कहा कि ये आजादी झूठी है, अगर आप डेढ़ महीने के अंदर इसका फैसला नहीं कर सकते तो इस आजादी का क्या अर्थ है ? जूलूस निकाला, डेढ़ महीने बाद 17 तारीख को उनके हिस्से का कुछ धन वहां आया। 17 से लेकर 21 तारीख तक जिला प्रशासन ने मजदूरों को सूचित नहीं किया। 21 को हमने डी.एम. से बात की तो उन्होंने 27 तारीख को उनकी बैठक रख दी। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड की सरकार सबसे कमजोर लोगों के साथ किस तरह का व्यवहार कर रही है।

उत्तराखण्ड के अंदर आबकारी नीति के सवाल पर बहुत बड़ी लड़ाई हुई। उत्तराखण्ड की तमाम महिलाएँ सड़क पर आ गईं। और जो नीति बनी, पूरे उत्तराखण्ड में ये कहा गया है कि अप्रैल के बजाय हम इस बार मई से नीति लागू करेंगे। लेकिन जो नीति आयी उसमें ये हुआ तमाम फायदे की दुकान शराब माफियाओं को गई और तमाम घाटे की दुकानें कुमाऊं और गढ़वाल मंडल विकास निगम को दी गईं।

गैरसैण को राजधानी बनाने के सवाल हम सब लोगों ने संघर्ष किया लेकिन आज देहरादून में स्थायी राजधानी बनायी जा रही है। और स्थिति इतनी खराब है कि जब हमारे मुख्यमंत्री उत्तरांचल की विधान सभा में देहरादून को राजधानी बनाने की मंशा जाहिर करते हैं तो राजधानी को गैरसैण बनाने वाले लोग भी वहां पर चुप रहते हैं। विधानसभा के अंदर किसी भी तरह का

प्रतिरोध नहीं होता है। इससे इस बात का अंदाज लगाया जा सकता है कि जो परिकल्पनाएं हमारी थीं, जो सपने हमारे थे वो सपने पूरी तौर पर धूमिल हो गये हैं। मुझे लगता है कि एक बार फिर से आंदोलनों के लिए नये तरह की सुगबुगाहट है। जो हताशा—निराशा वहां के लोगों में घर कर गई है, वो करवट ले सकती है और उस करवट से एक नया आंदोलन उत्तराखण्ड के अंदर हो सकता है। वो राजधानी के सवाल पर, आबकारी नीति के सवाल पर और तराई में भूमि के बंटवारे के सवाल पर हो सकता है।

अभी अल्मोड़ा जनपद में एक मामला आया है, जिसमें दो मंत्रियों को लेकर विवाद भी खड़ा हुआ है। मंत्रीपरिषद से अल्मोड़ा जनपद में एक जीप रोड़ को स्वीकृत किया गया। तो उस जीप रोड़ का शिलान्यास कृषि मंत्री महेन्द्र सिंह महाराजी ने किया। तो वहां फॉरेस्ट वालों ने आपत्ति लगा दी कि इसके निर्माण में पेड़ काटे गये हैं। तो वहां पर उस मार्ग का निर्माण बंद हो गया। धाल डुंगरा एक वन पंचायत है अल्मोड़ा जनपद में। तो धाल डुंगरा वन पंचायत में एक जीप मार्ग बन रहा था। डी.एफ.ओ. ने उसमें आपत्ति लगा दी। डी.एफ.ओ. ने कहा कि जब तक आप वन अधिनियम के अंतर्गत अनुमति नहीं लेंगे तब तक मार्ग नहीं बनेगा। तो वो मामला भी पूरा दबा हुआ है। विकास के नाम पर आप खेत से पत्थर नहीं निकाल सकते। ऐसा नहीं कि निकालते नहीं हैं, लेकिन निकालते हुए पकड़ने पर आपको अपराधी की तरह पकड़कर ले जाया जा सकता है। हमारे वहां स्कूलों की दशा बहुत खराब है। प्राइमरी स्कूलों की तो बहुत ज्यादा शहर के स्कूल में अगर 20 बच्चे हैं तो वहां पर चार अध्यापक हैं। गांवों में अगर 100 बच्चे हैं तो एक या दो अध्यापक वहां पर काम कर रहे हैं। बड़े—बड़े कांवेण्ट स्कूल खुले हैं। अशोक हॉल है, बिड़ला के स्कूल, तमाम कांवेण्ट स्कूल, लेकिन इन कांवेण्ट स्कूलों का उत्तराखण्ड के समाज से कोई लेना नहीं।

भट्ट जी ने विकेन्द्रीकरण की जो बात की वो बिल्कुल सही है कि ग्राम सरकार का विचार होना चाहिए। उसके लिए संघर्ष होना चाहिए। लेकिन जब तक हम निचले स्तर से नहीं बदलते तब

तक कुछ ठीक नहीं होगा। क्योंकि लगता है कि जैसे जनता भी इस बात की आदी हो चुकी है। जनता चुनाव में अन्य बातों को देखने की अपेक्षा शराब की बोटल तथा पैसे के लालच के अलावा उम्मीदवार की जाति, धर्म तथा उसके इलाके आदि को देखती है और उसी के अनुसार से वो वोट भी देती है। यदि हम लोकतंत्र की समग्र पहचान करना चाहते हैं और लोकतंत्र के लिए जनता को तैयार करना चाहते हैं तो हमें इसके लिए सबसे पहले जनता को तैयार करना चाहिए। यदि आज भी जनता पैसे के सवाल पर ही ध्यान देती है और वो बदल नहीं पाती है तो हम भी उत्तराखण्ड में लोकतंत्र की दिशा को नहीं बदल सकते हैं। ये ठीक है वोट देने के बाद वो अपने आपको ठगा सा महसूस करते हैं लेकिन यदि वोट देने का निर्णय लेने से पहले वो अपने बारे में कोई सफल फैसला ले लें तो उन्हें ऐसा नहीं लगता। ऐसा क्यों होता है वो तो एक शोध का विषय है। और हमारे भट्ट जी तथा शेखर जी इस बारे में शोध करेंगे लेकिन फिर भी हमें स्थितियां कमोबेश बदतर ही दिखाई पड़ती हैं।

जहां तक श्रमिकों और ग्राम के विकास के मामले हैं वो सारे के सारे ढंडे बस्ते में है। लेकिन ऐसा नहीं कि सुगबुगाहट नहीं है। उत्तराखण्ड एक जाग्रत समाज रहा है। इसलिए उत्तराखण्ड में लड़ाईया जरूर हो सकती हैं और किसी भी और समाज से बेहतर हो सकती है। उसके प्रति हम आशावान हैं लेकिन उसके लिए सभी को किन्हीं मुद्दों पर एकजुट होकर काम करना पड़ेगा। इसके लिए जरूरी नहीं कि कई मुद्दे उठाएं जाएं लेकिन जैसे राजधानी का सवाल, आबकारी का और भूमि के सही प्रबंधन आदि के सवालों को तो उठाया ही जा सकता है। इस तरह से अगर उत्तराखण्ड के कुछ मुद्दों पर एक लड़ाई विकसित होती है या लड़ी जाती है तो तब उत्तराखण्ड की दशा व दिशा बदल सकती है। यदि ये क्रम इसी तरह से चलता रहा तो स्वाभाविक रूप से कुछ समय बाद ये मांग की जाएगी कि यदि उत्तराखण्ड की राजधानी को देहरादून ही बनाना था तो लखनऊ में क्या बुराई थी। और कुछ लोग तो यह बात कहने भी लगे हैं। तो कुल मिलाकर

मुझे ये परिदृश्य निराशाजनक ही लगता है। पर उम्मीद है कि हो सकता है कल जनता की चेतना को देखते हुए इससे भविष्य में कुछ निकलकर आएगा।

विमर्श

भूपेन सिंह

भट्ट जी ने अपने अनुसार उत्तराखण्ड की दशा को बदलने के लिए एक दिशा की बात रखी। उस पर आप लोग अभी चर्चा भी करेंगे। पीसी तिवारी जी ने वर्तमान समय में उत्तराखण्ड के भीतर चलने वाली राजनीति और उसके असर के बारे में बताया। लेकिन मुझे एक बात और लग रही है कि जब हम उत्तराखण्ड की दशा और दिशा पर बात करने जा रहे हैं, तो उत्तराखण्ड में लोकतांत्रिक राजनीति है या नहीं है ? उत्तराखण्ड की राजनीति में कौन सा दल हावी है ? वहां के राजनैतिक दलों का क्या व्यवहार है ? कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी किस तरह से काम कर रही है ? जो उत्तराखण्ड क्रांति दल और उसके बाद बनी उत्तराखण्ड लोक वाहिनी जैसे दल बने और अभी उत्तराखण्ड गणपरिषद बनाने की बात भी की जा रही है तो इस प्रकार ये दलीय व्यवहार कैसा है? जैसे अभी आपने कहा कि पूरे देश में हमारा जो प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र है तो ऐसे में उत्तराखण्ड भी उससे अलग नहीं है। लेकिन फिर भी जो वहां के क्षेत्रीय आंदोलन रहे हैं, जनान्दोलन रहे हैं तो इन जनान्दोलनों के लोग और क्षेत्रीय राजनीतिक दल क्यों नहीं राजनीति की 'मुख्यधारा' में आ पाये ? और क्यों वहां के लोगों के लोकतांत्रिक अधिकारों की गारंटी नहीं कर पाये ? ये कुछ बिंदु थे जो मेरे मन में उभर रहे थे।

जगदीश भट्ट

जहां तक सांस्कृतिक पहचान की बात है तो उत्तराखण्ड में अलग-अलग स्थानों से आकर लोग यहां बस गए हैं उनमें एक चीज है कि हम चाहे तिब्बत के नजदीक रहे हों या कभी भी रहें लेकिन हम लोग हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सामजस्य बनाकर रहें। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सांस्कृतिक बदलाव दो चीजों से आता है अर्थ (धन) और शक्ति से। जैसे आज हम पश्चिम

से, अमेरिका से इसलिए प्रभावित हैं कि वहां शक्ति है। उनके पास धन की भी शक्ति है। वो हमसे प्रभावित नहीं हैं। क्योंकि हमारे पास न तो शक्ति है और न ही पैसा ही है।

पी. सी. तिवारी

हमें लगता है कि जिन क्षेत्रीय हितों और क्षेत्रीय राजनीति के लिए अलग राज्य की स्थापना की गयी थी उसमें एक अन्तरविरोध है। उसका कारण ये है कि जहां तक भाजपा-कांग्रेस की बात है, दोनों की नीति और रीति एक है। अभी अधिकारी नीति पर जिस दिन बहस होनी थी मुझे कांग्रेस के ही मन्त्रियों और विधायकों ने बताया कि उस समय भाजपा के किसी विधायक ने आकर बवाल कर दिया और वो वैसे ही पास हो गया। जिस पर सार्वजनिक तौर पर 8 कांग्रेसी विधायकों ने और मन्त्रियों ने आपत्तियां दर्ज की थी। तो दोनों के हित एक जैसे हैं। पिछली बार हम उत्तराखण्ड चौपाल में बैठे, कई बार हम उत्तराखण्ड के तमाम क्षेत्रों में बैठे। असल में हम कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी तथा जागरूक लोग जिन क्षेत्रीय हितों के लिए बात करते हैं लेकिन जो हित सामने आते हैं वो कुछ और ही होते हैं। ये लम्बी बहस की बात है कि वो दूसरे विषय क्यों होते हैं। मान लीजिए नशा नहीं, रोजगार दो की लड़ाई उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी की ओर से हुई। प्रतिनिधि बनकर जो आये वो कोई दूसरे आदमी थे। वाहिनी मौके पर नहीं थी। तो जब वो ऊपर जाकर बहस करते हैं, बात करते हैं तो लोग अपेक्षा वो करते हैं जो संघर्षों से पैदा हुई, लेकिन वहां स्थितियां बदल जाती हैं।

दूसरा कि पिछली बार उत्तराखण्ड चौपाल में हम बुद्धिजीवी समाज की बड़ी-बड़ी बातें हुईं। बहुत सारे राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय बुद्धिजीवी यहां मौजूद थे। उनसे एक सवाल पूछा जाना चाहिए कि उन्होंने अपना वायदा निभाया, क्या उन्होंने उत्तराखण्ड की उन तमाम शक्तियों को क्षेत्रीय हितों के लिए एकजुट करने का काम किया। क्या उन्होंने जो वायदे किये थे उनमें से एक प्रतिशत वादे

निभाने की कोशिश भी की गई। अगर उन्होंने ऐसा नहीं किया तो हम इतनी बड़ी बातें क्यों करते हैं ?

हमने उत्तराखण्ड की क्षेत्रीय शक्तियों को एकजुट करने की कोशिश करने तथा उनके चुनाव क्षेत्र में जाने की बात की। ये बात ठीक है कि हार जीत अपनी जगह लगी रहती है। लेकिन मेरे ख्याल से ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि ये चलन बन गया है कि कुछ लोग बौद्धिक स्तर पर बने रहेंगे और वो किसी अन्तर्विरोध में नहीं पड़ेंगे क्योंकि बौद्धिक जगत के लिए शायद एक सक्रिय आन्दोलनकारी से अलग हटना जरूरी है। क्योंकि सक्रियता के साथ बड़े खतरे हैं। माफिया के खतरे हैं, बदनामी के और प्रशासन के खतरे हैं। तो ये जो बचने की प्रवृत्ति है मुझे लगता है कि उत्तराखण्ड का बुद्धिजीवी बहुत अच्छा सोचता है। लेकिन बहुत अच्छा करता नहीं है।

हमने जब उत्तराखण्ड लोक वाहिनी को बनाने की कोशिश की तो बहुत लम्बी बहस हुई। बहुत लोग आये, बहुत लोग बैठे। लेकिन जब भी व्यवहार में उतरने की बात आयी तो वैसा हुआ नहीं। तो मुझे लगता है जो तीसरी धारा या क्षेत्रीय हितों की बात है, तो उत्तराखण्ड चौपाल आगामी दिनों में कभी बैठक करे तो इस पर पूरा सत्र होना चाहिए। कि कथनी और करनी का क्या फर्क है, जो कहते हैं वो करते क्यों नहीं ?

हमने जब उत्तराखण्ड छात्र संगठन बनाया था तो छात्र राजनीति के लिए तीन सूत्र विकसित किये थे – निर्णय में भागीदारी, क्रियान्वयन में भागीदारी और श्रेय में भागीदारी। लेकिन हम निर्णय में भागीदारी करते हैं क्रियान्वयन में भागीदारी नहीं करते। हम पूरी जनता का श्रेय लेने को तैयार रहते हैं लेकिन अपने हिस्से की भागीदारी नहीं करते। तो हमारे सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं की, बौद्धिकों की स्थितियां को देखते हुए हम उत्तराखण्ड में लोकतन्त्र ला ही नहीं सकते। जनता लड़ती है, भिड़ती है, तैयार होती है, आगे बढ़ती है लेकिन अन्ततः स्थितियां वहीं जाकर खड़ी हो जाती हैं। ये हमारे आत्म चिंतन का वक्त है। मुझे लगता है कि हम उत्तराखण्ड में

हारे नहीं हैं क्योंकि जीतने वाले लोगों में जो भी आए हैं वे बड़ी मुश्किल से आए हैं। जो उत्तरकाशी वाला है उसने तो ये कहा कि मैं गैरसैन्य राजधानी से सहमत नहीं हूँ तो ये बहुत खराब स्थिति है। यही सब चीजें बनी रहेंगी तो उत्तराखण्ड के क्षेत्रीय हितों की पैरवी के लिए सशक्त राजनीतिक, जन-संगठन और सशक्त लड़ाइयां होना बहुत मुश्किल हो जाएगा।

यदि हम लोग भी भाजपा-कांग्रेस, बसपा या अन्य राष्ट्रीय पार्टियों की कार्बन कॉपी बनें रहेंगे अर्थात् उनके तरीके ही अपनाएंगे तो फिर हममें और उनमें फर्क ही क्या रह जाता है ? तो फिर हम कांग्रेस ही क्यों नहीं हैं ? हम भाजपा ही क्यों नहीं हैं? इससे कैसे उबरा जाए। मेरे ख्याल से यह उत्तराखण्ड में एक नई सोच और लड़ाई के लिए यह बहुत ज़रूरी सवाल है।

डॉ. के. एन. भट्ट

मैं एक जिस प्रदेश के उदाहरण के साथ जो बातें लाया था उस प्रदेश का उदाहरण लेना एक बड़ी चुनौती थी। मैंने दो मुद्दे बताये थे। एक मुद्दा था और वो गांधी जी की सोच भी थी जमीनी स्तर पर योजना बनाना। दूसरा मुद्दा था राजनैतिक शक्ति का डिवोल्यूशन। तीसरा स्पष्टीकरण ये देना चाहता हूँ कि ये जो 73 और 74 सुधार ड्राफ्ट किया है वो एक ऐसे नौकरशाह ने किया है जो अपने सेवा काल में कोई बहुत बड़ा दूरदृष्टा नहीं था। इसलिए मैं ये स्पष्ट करना चाहता हूँ कि संवैधानिक सुधार की अपनी खामियां हो सकती हैं। इसीलिए मैंने ये सब बहुत जोर देकर कहा था। मैं, विकेन्द्रीकरण के शब्द का प्रयोग तो कर रहा हूँ लेकिन इसमें मतभेद हो सकते हैं मैंने कहा था ये कानून एतिहासिक है। ये जनता को सशक्त बनाने के लिए मील का पत्थर है। मैंने यहां विकेन्द्रीकरण को जोर देकर इसलिए कहा है क्योंकि हम जल, जंगल की लड़ाई अलग-अलग नहीं लड़ सकते। यदि हम एक संघर्ष चकबन्दी के लिए और दूसरा जल के लिए

चलायेंगे तो गड़बड़ हो जाएगी। इन सबके मूल में मुझे एक ही उपाय दिखाई देता है कि हम सबको एक सामूहिक लड़ाई लड़नी होगी।

पी. सी. भाई ने स्वास्थ्य सेवाओं पर कुछ बात की। केरल और उत्तरांचल की स्वास्थ्य सेवाओं में धरती-आसमान का अन्तर है। मेरा स्वास्थ्य सेवाओं की तरफ ध्यान दिलाने का मतलब यह नहीं था कि वहां पर स्वास्थ्य सेवाएं किस तरह से अस्तित्व में हैं। मेरा मतलब था कि स्वास्थ्य सेवाएं ठीक रहने से वहां के नागरिक स्वस्थ रहेंगे। उत्तराखण्ड के साथ तुलना कर मैं ये कहना चाहता हूं कि उत्तराखण्ड की आबो-हवा इतनी पर्याप्त है कि वो आमतौर से लोगों को स्वस्थ रखती है क्योंकि अन्य राज्यों में जितने लोग बीमार दिखाई देते हैं उतने यहां उत्तराखण्ड में नहीं हैं। बस इतना है कि वहां की महिलाएं प्रजनन के बाद कमजोर हो जाती हैं लेकिन फिर भी संभली रहती हैं, स्वस्थ रहती हैं और वहां की श्रम शक्ति के रूप में स्थापित हैं। हम स्थानीय स्वयं शासन लाकर स्वास्थ्य सुविधाओं को सुधार सकते हैं।

मैं, धस्माना जी की उस बात से सहमत हूं जिसमें उन्होंने कहा कि पंचायती राज गांधीयन नहीं है। लेकिन उस संशोधन में उन्होंने एक बात जरूर कही कि ग्राम सभा ही सर्वोच्च होगी। अब ये व्याख्या की बात है। हमें तो संघर्ष करना ही पड़ेगा। अब उसमें प्रबंध करने की जरूरत है। संविधान की भाषा में तो यह आया कि ग्राम सभा उच्च स्तर पर है और पंचायत उसकी सचिवीय संस्था या सचिव है। सभी निर्णय ग्राम सभा द्वारा लिए जाने हैं। गांधी जी ग्रामीण गणतंत्र के बारे में बातें करते हैं कि प्रत्येक वयस्क सदस्यों को बराबरी के रूप में देखा जाए। यहां पर हम इस भावना को ला सकते हैं। तीसरा, महत्वपूर्ण उदाहरण केरल का है, उनका पंचायत कानून 1999 में आया उसमें उन्होंने संविधान के इन एक्टों से बहुत आगे चलकर अपना कानून पास किया। जिस दिन हम संघर्ष कर लेंगे, स्थानीय योजना के लिए सक्षम हो जाएंगे, जिन 25 पंचायतों की विश्व से तुलना हो सकती है वैसी हम बना लेंगे और हम बना सकते हैं। अगर हम नहीं कर पाते तो हमारी पूंजी चौगुनी गति से बढ़ेगी क्योंकि उस समय हम वैश्विक विश्व में जी रहे हैं।

शेखर पाठक

मैं कहना चाहूंगा कि उत्तराखण्ड की क्षेत्रीय शक्तियों का कोई खात्मा नहीं हुआ है। हमारे पिछले चुनाव में उन्होंने कांग्रेस को लगभग सरकार चलाने लायक बहुमत दिया। और बी.जे.पी. के 22 में से 18 मंत्रियों को हराकर उनकी औकात दिखा दी। लेकिन फिर भी तुम अभी प्रतिपक्ष हो। जिस जिले के लोगों को उनकी इच्छा के खिलाफ जबरन उत्तराखण्ड में मिलाया गया था वो उत्तराखण्ड की कार्यसूचि में नहीं था उसमें हरिद्वार जिला भी है। हांलाकि वहां पर हमारे कत्यूरी राजाओं का शासन था पर ये भिन्न बात है। वहां के सभी लोगों ने बसपा को मात दिया है। और हमारे उद्यमसिंह नगर में बाकायदा उन्हें एक वोट भी मिला है। लेकिन इसके साथ ही एक वनराजी को जिताने का जो तीसरा बड़ा संदेश आया है उसका भी बड़ा अर्थ है। अर्थात् एक वनराजी जिनकी 800-900 जनसंख्या और साढ़े तीन सौ के करीब वोटर्स हैं वो विधायक बनकर आये, वो चाहे जिस भी संदर्भ में आए वो अलग बात है।

इस चुनाव में स्थानीय उत्तराखण्ड क्रांति दल ने भी चार मोमबत्तियां जलाकर रखी हैं। वो भी इस बात का प्रतीक है कि बच्चों अगर गृह कार्य करोगे, गहराई से काम करोगे, पुरानी परजयों में जाकर लोगों में जाओगे, सीखोगे तो तुम्हारे लिए भी गुंजाइश है। उसके अलावा अगर आप आगे की गणना करेंगे तो क्षेत्रीय दलों को, क्षेत्रीय व्यक्तियों को, बहुत जगह दूसरे नम्बर पर मत मिला है। बहुत जगह पर तीसरे नम्बर पर मत मिला है। बी.जे.पी. जो मुख्य पार्टी थी वो बहुत जगह चौथे नम्बर पर चली गयी है। इसका अगर आप समीचीन तरीके से विश्लेषण करें, तो ठीक है कि 56 से 60 प्रतिशत के बीच मतदान हुआ। इसके बावजूद लोगों का जो कुल गणना का निचोड़ है वो है कम से कम वो कुछ परिवर्तन तो ले ही आए। ऊपर से आप लोगों को बांटते भी हो लेकिन लोगों ने बंटने का कोई संदेश नहीं दिया। उत्तरकाशी जैसी जगह से यूकेडी का एक व्यक्ति जीत कर आया। नैनीताल जैसी जगह से जीत के आया जहां से लोग कहते थे कि ये सीट उनके हाथ

नहीं आ सकती। और विपिन त्रिपाठी या काशीसिंह ऐरी तो किसी भी दल में होते, तो उन्हें आना ही चाहिए था। लेकिन एक दल को चलाने के लिए जितनी निम्नतम समझ की ज़रूरत है, जितनी न्यूनतम जिम्मेदारियों की ज़रूरत है वो प्रतिफलन नहीं हुआ। जैसे पिछले ही चुनाव में रामनगर में वो वहां भाजपा के पक्ष में चले गये। अरे भई उत्तराखण्ड क्रान्ति दल का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होना उनके लिए भी अपरिहार्य बात है, लोगों के लिए तो है ही। उसकी ज़्यादा से ज़्यादा घनिष्टता होती तो स्थानीय दलों से होती। लोकवाहिनी और अन्य लोगों से होती। अगर ये सब मिलकर जाते तो एक बड़ी शक्ति बन सकते थे। क्योंकि पुरानी संघर्ष वाहिनी के अवशेष जहां-जहां पर हैं वो खण्डहर नहीं है वे सब जगह जीवित हैं।

अगर थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि प्रदीप टमटा कांग्रेस के बहुत अच्छा नेता सिद्ध हुए हैं तो उसके संस्कार कोई नारायण दत्त तिवारी और हरीश रावत ने नहीं बनाये हैं। वो पुराने संघर्षों से अर्जित संस्कार है। या प्रताप बिष्ट का भी ऐसा उदाहरण है। खुद हरीश रावत एक बार वन आन्दोलनों के दौर में हमारे साथ गिरफ्तार हुए हैं। तो जन आन्दोलन जितना आपको बढ़ा सकते हैं, जिस तरह की चेतना आप में फैला सकते हैं। वह पॉपुलर तरीके की राजनीति नहीं कर सकती।

सन् 52 से लेकर 2002 तक के विधायकों का सर्वेक्षण कीजिए, कितनों को जानते हैं आप? लेकिन बहुतों को आप जानते हैं। अगर आप रामदत्त जोशी को जानते हैं, अगर आप पुराने एन.डी. तिवारी जी को जानते हैं जो सन् 52 में कांग्रेस के संग्रामी को हराकर नैनीताल से एम. एल. ए. बने थे। विधान सभा के रिकॉर्ड बताते हैं कि उनमें किस तरीके की समझदारी थी और किस तरीके से वो लोग विकसित हुए। अगर विद्यासागर नौटियाल जीते थे, या काशी सिंह ऐरी निर्दलीय वहां से जीते थे या इन्द्रमणि बडोनी या जो नेगी जी कम्युनिस्ट पार्टी से जीता करते थे उत्तरकाशी से। ये सब उदाहरण हैं कि लोगों ने जहां भी उस तरह के व्यक्तित्व को पाया, जो जनसंघर्षों में उनके साथ हैं और राजनैतिक सोच भी रखता है तो उनको जिताया। और तो और

सन् 1956 के चुनाव में अल्मोड़ा से प्रतिपक्ष के अकेले उम्मीदवार के रूप में गोविन्द सिंह बिष्ट भी जीते थे, उस ज़माने के जनसंघ के अकेले एम. एल. ए.। सन् 52 में एन. डी. तिवारी का जितना और रानी खेत से मनमोहन उपाध्याय का जीतना अपने आप में बड़ी घटना है। यानि सन् 47 में जो पार्टी आज़ादी लायी उसके दो एम. एल. ए. का हार जाना बहुत बड़ी घटना है। ये हमारे लोगों की औसत आजादी को हमारे सामने रखती है।

इसलिए उत्तराखण्ड में राजनीतिक दलों का जो मिजाज़ है वो तो ऐसा ही रहेगा। आपने बी.जे.पी. का घोषणा पत्र देखा होगा, राज्य दिया तो सुराज भी देंगे। अरे! कोई इनसे पूछे कि तुमने क्या राज्य दिया। हमारी माताओं ने इतना बड़ा बलात्कार सहा, हमारे 46 के करीब लोग मारे गये। तो बताओ ऐसे में तुमने हमें क्या राज्य दिया? कोई भी पार्टी ये नहीं कह सकती कि हमने राज्य दिया। अगर आपने झक मारकर संसद में किसी प्रस्ताव को पास कर दिया तो जन दबाव में आप विवश हुए। आपने कोई कृपा नहीं की। 10 साल पहले तक तो खुद अटल बिहारी वाजपेयी राज्य का औचित्य नहीं मानते थे उनके अनुसार ये बांटने की साजिश है।

तो स्थानीय दलों और शक्तियों के बढ़ने की स्वभाविक संभावना होनी चाहिए। लेकिन हमारे यहां बहुत सारे युवाओं को अपना कैरियर भी बनाना होता है। वो पूरे के पूरे बिछने के लिए तैयार नहीं हैं इसलिए फिर उनको जम्प करनी पड़ती है। लेकिन आपके पास जिन उक्रांद, वाहिनी या महिला मंच जैसे संगठनों का अस्तित्व है इनमें अपने को होम करने वाले लोग अभी हमारे पास नहीं हैं। मतलब ये कि दो साल आपने होमवर्क किया और तीसरे साल आप पुरस्कार पा लें। ये कोई जन-राजनीति विकसित करने का तरीका नहीं है। आप अपना जीवन झौंक दें ताकि आप याद किये जाएं। श्री देव सुमन का उदाहरण है, चन्द्र सिंह गढ़वाली का उदाहरण है। ये ठीक है कि चन्द्र सिंह गढ़वाली चुनाव नहीं जीते। लेकिन हारने के बावजूद भी जो उसका जो प्रभाव हमारे समाज में पड़ता था वो कम नहीं है। स्थानीय राजनीति में इस तरह के और लोग भी मिलेंगे।

एक बड़ी देखने की बात है कि पिछले 20 सालों में जितने भी संघर्षशील लोग हैं, उन पर कोई दाग नहीं है। अगर कभी किसी ने लगाने का प्रयास किया भी तो वो टिका नहीं क्योंकि वो था ही नहीं। और जिन पर दाग लगना होता है वो अपने आप दिख जाता है। फिर चाहे वो पेट्रोल पंप हो, जमीन की बात हो, ठेकेदारी की बात हो। तो आप उत्तराखण्ड के चेहरों को देखकर पहचान बता सकते हैं कि वहां पर खलनायक कहां-कहां पर हैं। इसलिए क्षेत्रीय ताकतों के लिए यह बहुत बड़ी सम्भावना है कि उनको अपने होमवर्क में लगना चाहिए।

हमारे यहां जो भी क्षेत्रीय शक्तियां विकसित होंगी वो किसी भी अर्थ में संकीर्ण नहीं हो पाएंगी। हमारे यहां कोई शुभाष घिसिंग उभर नहीं सकता। हमारे यहां सामूहिक नेतृत्व की परंपरा रही है। क्योंकि हम एक सजाति विषयक दल नहीं हैं। हम अपेक्षाकृत बड़े समाज हैं और इतने भिन्न समाज हैं कि उत्तर प्रदेश कि हमारे यहां उत्तर प्रदेश की अपेक्षा सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में और अधिक भिन्नता है। हममें से जो भी लोग उत्तराखण्ड के समाज को अच्छी तरह से जानते हैं उन्हें ये बात पता ही होगी। क्योंकि बहुत सारे लोग कुमाऊं-गढ़वाल से आगे नहीं देखते हैं। और उसके बाद भी हमारी कितनी छोटी-छोटी पहचान हैं। एक-एक भोटिया घाटी की अपनी किस तरह की पहचान है। वही भोटिया जब मिलम में रहता है तो कितना बदला होता और जब नीचे मुन्स्यारी में आता है तो वह कृषक हो जाता है। जिस दिन वह ऊपर होता है व्यापारी हो जाता है और माणा नीति के बारे में भी यही बात सच है।

हमें क्षेत्रीय शक्तियों की बहुत अधिक जरूरत है। हमारा पढ़ा-लिखा प्रबुद्ध समाज है। पी.सी. की शिकायत भी वाजिब हो सकती है। लेकिन बुद्धिजीवी भट्ट जी की तरह आपको ठीक-ठाक साहित्य भी उपलब्ध करा दें तो उनकी भूमिका पर्याप्त है। लेकिन जिनको आगे लगना होता है उनको तो लगना ही होता है। उनको औरों से ये अपेक्षा नहीं करनी होती है कि फलाने ने नहीं किया है। अगर एक भी कर रहा होगा तो वो हजारों को अपनी ओर खींचता है। बार-बार तो ये होता रहा

है कि लोग आगे निकल जाते थे नेता पीछे रह जाते थे। उत्तराखण्ड आन्दोलन तथा बेगार आंदोलन में भी यही हुआ।

अपने समाज पर मुझे शक नहीं है। शक मुझे उस पर है कि जब इतनी शहादतों और मुजफ्फर नगर काण्ड के बाद मिले राज्य में तीन के तीन मुख्यमंत्री पुरानी घटनाओं की कोई जांच कराने में लगभग शब्दहीन रहे। उस समाज में नए निर्माण की जो हलचल होनी चाहिए थी वो नहीं हुई। इसमें क्षेत्रीय शक्तियों के अशक्त होने की जो भूमिका थी उसकी पड़ताल होनी चाहिए।

उत्तराखण्ड के लोकतांत्रिक नवनिर्माण में मीडिया की भूमिका

गोविन्द सिंह

दो-तीन साल पहले जब धस्माना जी उत्तराखण्ड पत्रकार परिषद के अध्यक्ष थे। तो हम लोगों ने तय किया कि हर महीने-दो महीने में किसी एक विशेषज्ञ को बुलाकर गोष्ठी करवायें। गोष्ठी का विषय अलग-अलग होता था, पहाड़ में विकास के जो अलग-अलग आयाम हो सकते हैं उन विषयों पर हम गोष्ठी करवाते थे। तो ऐसे ही एक गोष्ठी में हेस्को वाले अनिल जोशी आये थे और उस गोष्ठी की अध्यक्षता हिमाचल के पत्रकार सुधेन शर्मा कर रहे थे। तो उन्होंने कहा कि भई ये अच्छी बात है लेकिन उत्तराखण्ड के लोग आंदोलन बहुत करते है, काम नहीं करते हैं। तो ये हमारे बारे में एक ऐसी टिप्पणी थी जिसका उत्तर हम लोग ठीक-ठीक नहीं दे सकते थे। क्योंकि वास्तव में लगता था कि हम लोग काम बहुत कम करते हैं और बातें बहुत ज्यादा करते हैं।

दूसरा आरोप हम लोगों पर लगता रहा है कि अलग उत्तराखण्ड राज्य इसलिए बन पाया क्योंकि उत्तराखण्ड के बहुत सारे पत्रकार यहां पर हैं। राष्ट्रीय पत्रकारिता में उत्तराखण्ड के बहुत ज्यादा लोग हैं और दिल्ली में ही करीब 500 पत्रकार माने जाते हैं और अगर इसमें फ्रीलांसर मिला दिए जाएं तो संख्या और भी ज्यादा होगी। इसलिए ये आरोप लगता रहा है कि पत्रकार ज्यादा हैं, साक्षरता ज्यादा है, स्मारिकाएं और पत्रिकाएं निकलती है, लीफलेट निकलते हैं आदि। उन दिनों गली-गली से छोटे-छोटे अखबार निकलने शुरू हो गये थे।

मुझे लगता है कि ये दोनों ही आरोप सही नहीं है। जहां तक बात ज्यादा करने और काम न करने की बात है उसमें अब थोड़ी बहुत सच्चाई लगती है। लेकिन जहां तक दूसरा मुद्दा है कि पत्रकारिता की वजह से उत्तराखण्ड अलग राज्य बन गया। ये ठीक नहीं लगता क्योंकि उत्तराखण्ड आंदोलन अपने आप में इतना बड़ा आंदोलन था कि पत्रकार कुछ नहीं कर सकते थे।

चूंकि मैं टेलीविजन में रहा हूं दो-तीन साल तो मैं ये देखता हूं कि मीडिया वाले किस तरह की खबरों को उछालते हैं। मतलब जहां कहीं बलात्कार हो गया, कहीं बड़ी घटना घट गई या कोई घटना घट गई तो उसको स्वाभाविक तौर पर उछाल देते हैं। चूंकि उत्तराखण्ड आंदोलन था इसलिए अखबारों ने उछाला। तो ऐसा नहीं है कि पत्रकार बहुत ज्यादा हैं और उन्होंने उत्तराखण्ड आंदोलन पर बड़ी कृपा की। उत्तराखण्ड आंदोलन अपने आप में इतनी बड़ी चीज थी कि राष्ट्रीय मीडिया का ध्यान उसकी ओर गया और उसे उठाया गया। तो जो लोगों का बलिदान था उसकी वजह से अलग राज्य बना।

यह बात सही है कि जो हमारे पत्रकार हैं उन्होंने निश्चित रूप से उस दौर में भूमिका निभाई। उन दिनों उत्तराखण्ड पत्रकार परिषद के अध्यक्ष नवल किशोर डोभाल कहा करते थे कि आप लोग जो गिल्ली और जो छेद है उसको तो बनाइए, जो पत्रकार हैं वो तो उछालने का काम करेगा। आपके पास गिल्ली नहीं होगी तो आप डंडा कैसे पीटोगे। तो पत्रकार का काम उछालने का है, पीटने का है। असली भूमिका वहां के स्थानीय लोगों को जन आन्दोलनों को बनानी है। तो इस बात को ध्यान में रखा पत्रकारों ने, जो दिल्ली में हैं या पहाड़ से बाहर हैं। उन पत्रकारों ने आंदोलन की जमीन को बहुत अच्छी तरह से महसूस किया और उसको बहुत अच्छी तरह से किया इसलिए उनकी इतनी भूमिका जरूर है।

जहां तक राज्य बनने के बाद की भूमिका का सवाल है उसमें मुझे थोड़ा सा भटकाव लगता है। क्योंकि जिन पत्रकारों ने आंदोलन में शिरकत की थी उसमें से ढेर सारे लोग खुद राजनीति में शामिल हो गये, खुद दलों में शामिल हो गये जो मुझे लगता है, ठीक नहीं है। पत्रकारिता एक अलग तरह का काम है और राजनीति एकदम अलग तरह की बात है। ठीक है यदि वो लोग राजनीति में शामिल हो जाते हैं तो उनको फिर पूरी तरह से राजनीति करनी चाहिए, फिर पत्रकारिता नहीं करनी चाहिए। पत्रकारिता और राजनीति का घालमेल नहीं होना चाहिए। उससे पत्रकारिता की क्रेडिबिलिटी खत्म हो जाती है और राजनीति पर भी लोग बेवजह शक करने लगते

हैं या उनका ध्यान इधर भी और उधर भी जाता है। तो ये थोड़ा गड़बड़ लगता है। जो दिल्ली में पत्रकार थे उनमें से बहुत लोगों ने कोशिश की थी कि किसी तरह हमें विधायक का टिकट मिल जाए। सच बात ये है कि उनमें से किसी को टिकट नहीं मिला। ये उसका एक दूसरा पक्ष है। टिकट मिले भी तो क्यों मिले? ठीक है आपने पत्रकार के तौर पर योगदान दिया। लेकिन ये अपेक्षा कि पत्रकारिता के बदले आपको विधायक बना दिया जाए, ठीक नहीं है। ये पत्रकारिता के जो मूलभूत सिद्धांत हैं उसके भी खिलाफ हैं। अब हम सेमिनार के विषय पर आते हैं। उसके तीन-चार रूप दिखायी देते हैं। एक तो राष्ट्रीय पत्रकारिता है, टीवी चैनल हैं, दिल्ली से निकलने वाले अंग्रेजी, हिन्दी के अखबार हैं और इसके अलावा रेडियो हैं बीबीसी है और अन्य चैनल हैं।

दूसरे वे अखबार हैं जो देहरादून से या नैनीताल-हल्द्वानी से निकलते हैं, जिनका अच्छा खासा सर्कुलेशन है, खासकर अमर उजाला। देहरादून में एक-आध और है जिनका सर्कुलेशन काफी माना जाता है।

तीसरी श्रेणी में वो हैं जैसे मालूम पड़ा है कि पूरे उत्तरांचल से लगभग 35 के करीब दैनिक अखबार और 350 के करीब साप्ताहिक अखबार निकल रहे हैं। उसके अलावा साढ़े तीन सौ से अधिक पाक्षिक या मासिक या त्रैमासिक अखबार, पत्रिकाएं या स्मारिकाएं आदि निकलती हैं। इनकी संख्या लगभग 1 हजार के करीब बैठती है।

मुझे लगता है कि इन तीनों वर्गों की अलग-अलग भूमिका है। जो राष्ट्रीय पत्रकारिता है निश्चित रूप से वो आपका विशेष ध्यान नहीं रख सकते हैं, क्योंकि दिल्ली में जिस तरह से पत्रकारिता के मापदंड तय होते हैं उसका एकदम अलग तरीका है। जो घटना होगी, निश्चित रूप से उसकी तरफ ध्यान जाएगा। घटना पैदा करने के लिए जो स्थानीय जन आंदोलन हैं उनकी भूमिका महत्वपूर्ण है।

दूसरी ओर जो अमर उजाला और दैनिक जागरण जैसे स्थानीय अखबार हैं, चूंकि वो गांव-गांव तक पहुंच रहे हैं हर कस्बे में जहां भी एक पोस्ट आफिस है वहां उनका एक संवाददाता है। जहां 10 कापी जाती हैं वहां भी उनका एक एजेंट है जो रिपोर्ट भी भेजता है तो मुझे लगता है कि उनकी जो भी भूमिका है वो महत्वपूर्ण है। उसमें हमें कुछ गड़बड़ियां लगती हैं। चूंकि धन कमाना या पॉवर सेंटर के तौर पर उभरना अखबार का मुख्य उद्देश्य होता है। इसलिए वो किस तरह पहाड़ की समस्याओं और सरोकारों पर किस तरह सोच पाएंगे या ध्यान रख पाएंगे ये सोचने का विषय है। मुझे नहीं लगता कि उनके हित पहाड़ के या स्थानीय लोगों की समस्याओं से जुड़े होते हैं।

तीसरी श्रेणी के जो समाचार पत्र हैं उनकी भूमिका काफी अच्छी हो सकती है। जैसे नैनीताल समाचार काफी अच्छा रोल अदा कर रहा है या अन्य जगहों पर जो छोटे-छोटे अखबार निकल रहे हैं उनमें से एक दो होंगे जो जरूर अच्छा काम कर रहे होंगे। तो उनकी भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। जैसे बचपन में हम पढ़ा करते थे। उत्तराखण्ड ज्योति एक अखबार हुआ करता था जो हमारे प्राथमिक विद्यालय में आता था। तो उसी से हमको खबरों का पता चलता था और हम लोग बड़े ध्यान से उसको पढ़ते थे। एक तरह से समझिए कि ब्रह्म वाक्य की तरह हम उसके शब्दों की तरफ ध्यान दिया करते थे। तो इसलिए उन अखबारों का जो रोल है वो काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन ये जो बड़े अखबार हैं अमर उजाला, जागरण इन्होंने उनको खत्म कर दिया है। तो फिर मजबूरी ये हो गयी उनकी कि कैसे भी बचे रहें। या फिर ऐसे अखबार हैं जो इन्हीं की श्रेणी में है जो केवल न्यूज प्रिंट बेचने के लिए निकल रहे हैं। या फिर उनको कहीं कुछ मिल जाए नगरपालिका में सदस्यता मिल जाए, या कहीं कोई ऐसी सदस्यता मिल जाए जिससे वो थोड़ा सा पावर के हकदार जिले या तहसील हेडक्वार्टर में बन जाएं। तो वो एक खराब ट्रेंड नजर आता है। चूंकि वो विज्ञापन के लिए प्रशासन पर निर्भर रहते हैं। इसलिए वो उसकी खिलाफत कभी कर नहीं सकते। उनका काम है कि बस जिलाधीश या एस.पी. वगैरह को खुश रखो और

अपनी दुकानदारी चलाते रहो। तो पहाड़ के जो हित हैं या फिर इकोलॉजी, संस्कृति और पर्यावरण से जुड़े सवाल हैं उनकी तरफ उसका ध्यान बहुत कम रहता है। पिछले दिनों मैं एक लेख पढ़ रहा था कि हाईस्कूल पढ़ा हुआ आदमी चपरासी बनता है लेकिन पत्रकार के लिए कोई योग्यता नहीं होती है। हर कोई देहरादून में अखबारों का पंजीकरण करवा रहा है और सैकड़ों नाम रजिस्टर हो रहे हैं। तो ये एक समस्या है।

मुझे लगता है कि इस तरह से तस्वीर धुंधली है और ज्यादातर पत्रकार पहाड़ों में स्ट्रिंगर हैं। पिथौरागढ़ में जैसे कोई अखबार नहीं है। 10-12 पत्रकार स्ट्रिंगर है। अमर उजाला के जागरण के या नवभारत टाइम्स, जनसत्ता, हिन्दुस्तान के स्ट्रिंगर है। और वे लोग खुद ही परेशान रहते हैं। चूंकि पूरी तनख्वाह किसी को नहीं मिलती है। उनके पास नियमित रोजगार नहीं है। उनको लगता है यदि कुछ बहुत किसी तरह छप जाए, क्योंकि भुगतान कॉलम सेंटीमीटर के हिसाब से होता है। तो ये उनकी एक बड़ी भारी चिंता रहती है। उनके सामने बड़ी घनघोर समस्याएं हैं। इसलिए जाहिर है कि फिर वो कहीं न कहीं से अपनी आय जुटाने की कोशिश करते हैं।

किसी की दुकान है जैसे मैं, घरचूला में गया तो वहां तेजसिंह गुंज्याल नाम का एक रिपोर्टर है। मुझे बता दिया गया था पिथौरागढ़ में कि वहां पर इससे मिलना। तो गया तो मैंने पूछा कि तेज सिंह गुंज्याल कहां हैं तो उन्होंने कहा कि ये सामने हैं। तो उसके पास गया, जूतों की दुकान थी। पूछने पर उसने कहा कि मैं ही तेज सिंह गुंज्याल हूं। जूते की दुकानदारी कर रहे थे और साथ में अखबार की रिपोर्टरी कर रहे थे। मैं ये नहीं कहता कि जूते का काम करना गलत है। लेकिन जो पत्रकार हैं, उसका जो आधारभूत प्रशिक्षण है या पहाड़ के जो मुद्दे या सरोकार हैं उनके प्रति उनका कोई इच्छा या जिज्ञासा नहीं है। चूंकि रोजगार कुछ हैं चिंताएं कुछ हैं। तो इनको देखते हुए हम अपेक्षा नहीं कर सकते कि ये हम यहां पर जो गंभीर सवाल पर बहस कर रहे हैं इनको देखते हुए अपनी रिपोर्टिंग करें। तो ये कुछ समस्याएं हैं, और पत्रकारों की जो भूमिका हो सकती है, जो खासकर दिल्ली में बैठे हैं कि वे लोग पहाड़ के मुद्दों पर थोड़ा

संवेदनशील हों लेकिन वो संवेदनशील तभी होंगे जब जन आंदोलन कोई सवाल खड़े करेंगे। वही गिल्ली उछालने की बात है, पत्रकार तो वही कर सकते हैं।

जहां तक जन आंदोलनों का सवाल है उत्तराखण्ड आंदोलन के बाद यह मामला बहुत ही ढीला पड़ गया, क्योंकि आंदोलन खुद भटकाव का शिकार हो गया और ज्यादातर जो आंदोलनकारी नेता थे वे राजनीति में चले गये या फिर दूसरे कामों में लग गये। तो ये एक घनघोर समस्या है एक तरफ स्वार्थ है दूसरी तरफ त्याग और बलिदान है। निश्चित रूप में त्याग और बलिदान बहुत कठिन काम है, लेकिन जैसे हमारा चिपको आंदोलन शुरू हुआ था तो उसमें बलिदान बहुत बड़ी चीज थी, काफी लोगों ने बलिदान दिए, तब उस आंदोलन को एक अंतर्राष्ट्रीय पहचान मिली और पत्रकारिता में भी एक जगह मिली। यदि स्थानीय स्तर पर त्याग और बलिदान नहीं होंगे तो मुझे लगता नहीं कि पत्रकार भी कुछ कर पाएंगे।

उत्तराखण्ड में पत्रकारिता कैसी हो?

सुरेश नौटियाल

तीन वर्ष पहले, ब्रिटिश उच्चायोग के प्रेस एवं संपर्क विभाग ने नयी दिल्ली में "भाषाई पत्रकारिता : वर्तमान स्वरूप और संभावनाएँ" विषय पर गोष्ठी का आयोजन किया था। जनसत्ता के सलाहकार संपादक प्रभाष जोशी ने इस गोष्ठी को संबोधित करते हुए कहा था कि मैंने अपनी जिंदगी के नौ साल अंग्रेजी पत्रकारिता में व्यर्थ किये, क्योंकि इस देश में जनमत बनाने में अंग्रेजी अखबारों की भूमिका नहीं हो सकती है। इसी आख्यान में आदरणीय प्रभाष जोशी जी ने कहा था कि अंग्रेजी इस देश में सोचने-समझने की भाषा तो हो सकती है लेकिन महसूस करने की नहीं। और जिस भाषा के जरिये आप महसूस नहीं करते, उस भाषा के जरिए आप लोगों को इतना प्रभावित नहीं कर सकते कि वे अपनी राय, अपने तौर-तरीके आदि बदल सकें। उन्होंने यह भी कहा कि हिंदी और अंग्रेजी में लिखने पर पाठक वर्ग में अलग-अलग तरह की प्रतिक्रिया होती हैं। केवल भाषाई अखबार ही लोगों में आवाज और सही सोच पैदा कर सकते हैं यानी यही पत्र जनमत बनाने के सही माध्यम और सही हकदार भी हो सकते हैं। प्रभाष जी का यह कथन भी प्रासंगिक है कि जो सचमुच का राजनेता है, वह इस देश के भाषाई अखबारों को ज्यादा महत्व देता है। किसी भी राजनेता का भविष्य कोई बना या बिगाड़ सकता है, तो वे भाषाई अखबार ही हैं।

उत्तराखण्ड प्रभात नामक पाक्षिक पत्र का संपादन करते हुए मुझे महसूस हो रहा है कि मैंने भी 6-7 वर्ष अंग्रेजी दैनिक ऑब्जर्वर ऑव बिजनेस एंड पॉलिटिक्स में बरबाद किये। हां, इससे पहले आठ साल से अधिक समय यूनीवर्ता हिन्दी समाचार एजेंसी में रहते हुए जनता को नजदीक से देखा और काफी कुछ सीखा। ऑब्जर्वर में इसलिए नहीं सीखा क्योंकि यह अंग्रेजी पत्र ऐसे लोगों के लिए छापा जाता था जो करोड़ों को अरबों बनाने के फेर में होते थे और हम पत्रकारों का बखूबी इस्तेमाल करना जानते थे। इस पत्र के राजनीतिक ब्यूरो में आने से पहले मेरा आचरण

किसी पांचतारा पत्रकार जैसा हो गया था। पैसे वालों के प्रलोभनों से स्वयं को बचाए तो रखा लेकिन छोटे-मोटे उपहार बैग-फोल्डर आदि लेकर और उनकी शराब पीकर पांचतारा छलावे में जीता रहा। राजनीतिक ब्यूरो में आने के बाद फिर से जनप्रतिनिधियों के करीब आया। अपने आचरण को सुधारा और महसूस किया कि जिस तरह पीआर एजेंसियां प्रलोभन देकर व चिकनी-चुपड़ी बातें कर अपने ग्राहकों का काम निकलवा देती हैं। बहरहाल, अखबार बंद हुआ और फिर सड़क पर आ गये। तीन-चार महीने अमर उजाला के राजनीतिक ब्यूरो में लगाए लेकिन इसी दौरान 'उत्तरांचल' नाम राज्य की विधानसभा के चुनाव सामने आ गये। ठान लिया कि अब तो अखबार निकालना ही है। अमर उजाला छोड़ दिया और एक दिन राजेन्द्र धस्मानाजी को बताया कि उत्तराखण्ड प्रभात नाम से पत्र का पंजीकरण हो गया है। उन्होंने बहुत समझाया कि सोच लो कहीं बीच में आर्थिक तंगी के चलते बंद न करना पड़े। अखबार निकला और आज तक भी निकल रहा है। आगे भी इसे निकालते रहेंगे, ऐसा मानवीय संकल्प है यह भूमिका इसलिए बांधी क्योंकि मैं यह बताना चाहता हूं कि उत्तराखण्ड प्रभात के दूसरे अंक से ही अद्भुत अनुभव होने शुरू हो गये। रोज चार-पांच चिट्ठियां आने लगीं। सबमें एक जैसी ही पीड़ा होती। अस्पताल नहीं है, सड़क कागजों में है, बिजलीकरण फाइलों में बंद है, पानी को सांप सूंघ गया है, नौकरियां विलुप्त हो गयी हैं, राजनीतिक नेता जनता की नहीं सुनते हैं आदि। 18-19 वर्ष के पत्रकारिता जीवन में मेरे लिए ऐसे अनुभव अद्भुत हैं जब सीधे जनता से संवाद हो रहा है। हमने इन्हीं पत्रों को समाचार या चिट्ठी का रूप देकर छापना शुरू कर दिया। गढ़वाल के सिल्सू-भोटा गांव के एक सज्जन का पत्र आया कि उत्तराखण्ड प्रभात में उनके गांव के स्कूल में अध्यापक न होने के बारे में छपने के 20-25 दिन के भीतर नियुक्तियां हो गयी हैं। बहुत अच्छा लगा कि जिस उद्देश्य के लिए यह पाक्षिक निकाला जा रहा है, उसमें सफलता मिलती दिखायी दे रही है। एक-दो और ऐसे उदाहरण हैं।

ऐसे में निश्चित तौर पर लगेगा कि जनता की भाषा में उससे संवाद करने वाला पत्र निकालना ही पत्रकारिता की सार्थकता है।

ब्रिटिश उच्चायोग की इस गोष्ठी में वरिष्ठ पत्रकार और एक दौर में दूरदर्शन के महानिदेशक रहे कमलेश्वर ने कहा कि अंग्रेजी दैनिक का जीवन केवल एक दिन का होता है जबकि भाषाई अखबार निश्चित रूप से दो दिन, चार दिन परिवार के साथ रहते हैं। उनका कहना था कि दलितों के अधिकारों का सवाल, महिलाओं के अधिकारों का सवाल, पर्यावरण का सवाल, संस्कृति का सवाल और इनसे जुड़े तमाम मुद्दे जो देश को व्याकुल करते हैं वे किन अखबारों में आ रहे हैं। उन्हीं का जवाब था कि ऐसे मुद्दे भाषाई अखबारों में आ रहे हैं। हिंदी और अन्य भाषाई पत्रों में मौजूद हैं। कुल मिलाकर कुछ अपवाद छोड़ दें तो देश की बदलती हुई संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्यों को जिस तरह से भाषाई पत्र पेश कर रहे हैं, अंग्रेजी अखबार नहीं।

सरसरी तौर पर देखें तो पत्रकारिता सूचनाओं से भरा ऐसा लेखन है जो तथ्यपरक होने के साथ-साथ निष्पक्ष और निर्भीक भी हो। मीडिया की तमाम विधाओं पर यही लागू होता है, लेकिन अंतर भी जानना होगा। सूचनाएं तो किसी शोधग्रंथ में भी मिल सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पत्रकारिता जन के लिए होती है और यही उसके केन्द्र में भी रहना चाहिए।

क्षेत्रीय पत्रकारिता पर यह जिम्मेदारी कुछ ज्यादा ही है। यह पत्रकारिता जनता के जितने करीबी होगी, उतनी ही ज्यादा सफलता इसके उद्देश्य की होगी। लेकिन जन के निकट जाने के तौर-तरीके सतही नहीं होने चाहिए। उत्तराखण्ड में हर छोर पर उपलब्ध दैनिक पत्र जिस तरह से जनता के निकट जा रहे हैं, उससे उत्तराखण्ड की समग्रता खंडित होती जा रही है। एक क्षेत्र को दूसरे से, एक जनपद को दूसरे जनपद से और कुमाऊं को गढ़वाल से दूर रखने की कोशिशें दैनिक पत्रों में देखने को मिल सकती हैं। ये उनकी व्यावसायिक मजबूरी हो सकती है लेकिन फिर उन्हें अखबार छोड़कर पंसारी का सामान बेचना चाहिए। उसमें ज्यादा फायदा हो सकता है।

ग्राम प्रधान की बेटी के ब्याह की खबर तो इन दैनिकों में आपको मिल जाएगी और यह भी कि उसमें कौन-कौन सरकारी अधिकारी या नेता शामिल हुआ, लेकिन यह खबर नहीं मिलेगी कि इस मौके पर एकत्रित अधिकारियों ने ग्राम प्रधान के भ्रष्टाचार को ढांपने के लिए क्या कुछ नहीं किया। सड़कों-पुलों के निर्माण की जानकारी तो इन अखबारों से मिल जाती है लेकिन यह नहीं कि किस ठेकेदार ने किस नेता की सिफारिश पर कितने कमीशन पर ठेका लिया। आप बताएं कि कितने दैनिक पत्र छापते हैं कि उत्तराखण्ड नकली सामान की खपत का बहुत बड़ा क्षेत्र बन गया है। लोगों के स्वास्थ्य पर इससे असर पड़ने के साथ-साथ सरकार की जेब पर भी कैंची चल रही है। कितने बड़े अखबार हैं उत्तराखण्ड में जिन्होंने गांव-गांव तक पहुंची शराब की थैली को रोकने के लिए अभियान छेड़ा हो और शराब माफिया को ध्वस्त करने के प्रयास किये हों। उत्तर पूरी तरह नकारात्मक है।

मैं यह नहीं कह रहा कि छोटे अखबार ऐसा कर पा रहे हैं। लेकिन छोटे अखबारों की अपनी समस्यायें हैं। छोटे अखबार गरीबी रेखा से नीचे रह रहे नागरिकों की तरह हैं जो अपने अस्तित्व की लड़ाई में वास्तविक लड़ाई के पचड़े में पड़ने से बचते हुए दिखायी देते हैं।

ऐसे में कौन लड़ेगा उस जन की जंग, जो सरकारी व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था और आसपास के माहौल से पीड़ित है?

आज उत्तराखण्ड में कितने पत्रकार हैं जो वास्तव में उन रास्तों पर चलने का साहस कर रहे हैं जिन पर उमेश डोभाल भयमुक्त चला? क्या आज उत्तराखण्ड में जल-जंगल-जमीन और शराब माफिया नहीं हैं? क्या उमेश डोभाल के बाद लड़ाई खत्म हो गयी या हो जानी चाहिए? क्या आज पत्रकारों को मालूम नहीं कि कौन सा नेता किस भ्रष्टाचार में लिप्त है? कौन कहां होटल बनवा रहा है और कौन माफिया के पैसे पर पल रहा है? इस श्रेणी में कई तरह के पत्रकार शामिल हैं। एक वे जो नेताओं की तरह माफिया से लाभान्वित हो रहे हैं। दूसरे वे जिन्हें माफिया से डर

लगता है और उनसे टक्कर नहीं लेना चाहते और तीसरे वे पत्रकार जिन्हें सरकारी विज्ञप्तियों, अफसरों—ठेकेदारों के दावों, मंत्रियों की घोषणा और नेताओं की चतुर बातों के अलावा कुछ भी 'समाचार' नजर नहीं आता है। ये लोग वास्तव में सुविधाभोगी पत्रकार हैं। किसी मिशन से इनका लेना—देना नहीं। अपनी सुख—सुविधाओं में कमी न हो पाए, इसी की लड़ाई उनके श्रेष्ठ है।

पत्रकारिता कैसे और क्यों शुरू हुई, इसका कारण तो आसपास और समाज को अधिकाधिक जानकारी हासिल कराना ही रहा होगा लेकिन इसका अब क्या उद्देश्य है इस पर थोड़ी बातचीत होनी चाहिए।

देश के संदर्भ में और खासकर नवोदित उत्तराखण्ड के संदर्भ में पत्रकारिता यानी पत्र—पत्रिकाओं और टी.वी. समाचार चैनलों का आज के जीवन में पहले से कहीं ज्यादा महत्व हो गया है। सूचना क्रांति की प्रगति के साथ—साथ इसका महत्व निरंतर बढ़ते जाने की पूरी संभावना तो है ही। पत्र छोटा हो या बड़ा, उसका उद्देश्य जनता तक ज्यादा से ज्यादा और बढ़िया से बढ़िया जानकारियां निष्पक्ष ढंग से पहुंचाते रहने की होनी चाहिए। जन—संचार में पत्रों की भूमिका कितनी सशक्त हो सकती है इसका अंदाजा लगाने के लिए उदाहरणों की कमी नहीं। राजीव गांधी के प्रधानमंत्री रहते जब बोफोर्स रक्षा सौदे की बात अखबारों में उछली तो इस सरकार के जाने ही राह अपने आप बन गयी। केन्द्र में वर्तमान भाजपा सरकार के पेट्रोल पम्प घोटाले की खबरें अभी भी आ रही हैं। दिल्ली और देहरादून से लेकर अन्य शहरों में संघ परिवार के सदस्यों को कौड़ियों के भाव जमीने दिये जाने जैसे मामले प्रकाश में लाकर अखबारों और खासकर अंग्रेजी दैनिक इंडियन एक्सप्रेस ने सरकार की नींद हराम कर दी है। यानी अखबार ईमानदारी से अपना काम करते रहें तो सरकार या किसी भी अन्य की कारगुजारियों का भंडाफोड़ कर जनता को जागरूक बनाने का काम तो कर ही सकते हैं। बल्कि केवल एक अखबार ही काफी है। उत्तराखण्ड के संदर्भ में कहूंगा कि नैनीताल समाचार ने कुमाऊं विश्वविद्यालय के कुलपति राजपूत की कारगुजारियों से निरंतर परदा हटाकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जहां एक ओर दैनिक पत्र धड़े बनाकर इस

कुलपति के पक्ष या विपक्ष में आते दिखायी दिये, नैनीताल समाचार ने तमाम दबावों और धमकियों के बावजूद कुमाऊं विश्वविद्यालय में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करना जारी रखा। ऐसे अभियानों में एक बात समझने की होती है कि अखबार को ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए कि वह मुद्दे से जुड़ा एक पक्ष लगने लगे।

आज अखबार पढ़े-लिखे परिवारों का अटूट हिस्सा है। यदि किसी को सुबह-सुबह उसका प्रिय अखबार पढ़ने को न मिले तो वो बेचैन हो इधर-उधर घूमते देखे जा सकते हैं। दुर्भाग्य या संयोग से छोटे अखबारों और 'पत्रिकाओं' को यह सौभाग्य कम ही प्राप्त है। थोड़े लोग हैं जिनके घरों में नैनीताल समाचार, युगवाणी, पिंडारी मेल, गढ़वालै धै, प्यारा उत्तराखण्ड, मध्य हिमालय, उत्तरांचल पत्रिका, गढ़वाल पोस्ट, हिमालय के स्वर, उत्तराखण्ड खबरसार, पर्वतजन और उत्तराखण्ड प्रभात जैसे छोटे कहे जाने वाले पत्र या पत्रिकाएं आती हों। इनका रूपरंग इंडिया टुडे-आउटलुक या टाइम्स ऑफ इंडिया जैसा लुभावना नहीं होता। ये पत्र-पत्रिकाएं किसी सीधे-साधे और ईमानदार ग्रामीण की तरह अनाकर्षक होती हैं। अब लोगों को कौन समझाये कि शहर के चिकने आदमी की तरह दिखने वाली रंगीन शहरी पत्रिका से बेहतर सामग्री अनाकर्षक लेकिन सजग ग्रामीण जैसे लगने वाली पत्रिका में हो सकती है। यह तो तभी पता चलेगा यदि इस ग्रामीण व्यक्ति या छोटी कही जाने वाली पत्रिका में लिखे को पढ़ा जाए। इतनी मेहनत कम लोग करते हैं।

उत्तराखण्ड में पर्यावरण को बचाने की चिंता रही हो या स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय लोगों के अधिकार बहाली का मुद्दा, इन सब विषयों को बिना किसी लाग-लपेट के और बिना किसी शाब्दिक जाल के स्थानीय पत्रों ने ही निर्भीकता से उठाया है। टिहरी में बांध की वजह से विस्थापित हो रहे लोगों का मामला जितने प्रभावी ढंग से उत्तराखण्ड प्रभात, युगवाणी या किसी स्थानीय और छोटे पत्र ने उठाया, उतना शायद ही किसी बड़े पत्र ने उठाया हो। ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं जब जल, जंगल, जमीन से जुड़ी अनेक समस्याएं क्षेत्रीय अखबारों में छपने के बाद ही बड़े और राष्ट्रीय अखबारों में आईं।

छोटी जगह पर कम पैसे में काम करने वाले पत्रकार के लिए चुनौतियां छोटी नहीं होती हैं और न ही संकट और खतरे छोटे होते हैं। इस पत्रकार के पीछे उसका मालिक और संपादक भी खड़े नजर नहीं आते हैं। उदाहरण के लिए यदि पौड़ी के शराब माफिया को लगता कि उमेश डोभाल के साथ उसके अखबार के मालिक और संपादक हैं तो क्या वह उमेश को जान से मारने से पहले दस बार नहीं सोचता? यह तो बिल्कुल ही अलग मुद्दा है कि उमेश की हत्या के बाद पूरे देश की पत्रकार बिरादरी एकजुट हो गयी थी और पत्रकारिता पर आसन्न खतरों को लेकर नयी बहस ही छिड़ गयी थी।

कहने का अर्थ है कि गैरसैंण, मोरी, असकोट, आराकोट, माणा, मुनस्यारी जैसे दूरस्थ इलाकों की सुध लेने वाले पत्रकारों की सुरक्षा के लिए क्या बंदोबस्त हैं? क्या वह डीएम-एसपी से लेकर स्थानीय माफिया, प्रभावशाली ठेकेदार या भ्रष्ट अधिकारी के गलत क्रियाकलापों के बारे में निडर होकर लिख सकता है? इस पत्रकार के साथ कोई हादसा होने की स्थिति में उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए क्या कोई उपाय हैं? टीवी के एक कार्यक्रम में तहलका डॉटकॉम के संपादक तरुण तेजपाल ने ठीक ही कहा कि पत्रकार की अपनी सीमायें हैं। उसका काम भ्रष्टाचार या अच्छे कार्यों को उजागर करना होता है। इन पर क्या कार्रवाई होनी चाहिए यह दूसरी एजेंसियों का काम है। मैं इससे सहमत हूँ लेकिन आग्रह करना चाहूंगा कि पत्रकार समाज तक तो सीधे पहुंच ही सकता है। उसे ऐसा करके समाज को सही दिशा देने का काम कर ही लेना चाहिए। उत्तराखण्ड में इसके लिए संभावनाएं अनंत हैं।

कोई पत्रकार जान गंवाने का जोखिम भी नहीं उठाएगा। उमेश डोभाल तो हर कोई नहीं बनना चाहेगा। मेरा निवेदन है कि जब तक पत्रकारों की बिरादरी संगठित नहीं होगी, जब तक वे एक-दूसरे के संकट में खड़ा होना नहीं सीखेंगे, तब तक निर्भीक पत्रकारिता केवल रोमांस की तरह ही रह जाएगी। पत्रकार बिरादरी और प्रबुद्धजन को एक कोष की स्थापना भी अपने ही बल

पर करनी चाहिए ताकि बूरे या आड़े वक्त में धन की कमी महसूस न हो। किसी को भी इस जिम्मेदारी से बचना नहीं चाहिए।

एक बात और कहना चाहूंगा कि प्रेस की स्वतंत्रता का कतई गलत विवेचन नहीं किया जाना चाहिए। स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं कि आप किसी के भी पक्ष-विपक्ष में जो चाहे और जिस तरह से लिख दें। याद रहे कि अंतः पत्रकार भी समाज के प्रति जवाबदेह है। उसे चौथे खंबे पर खड़ा होने का दंभ नहीं होना चाहिए। शेष तीन खंभों की तरह यह लोकतंत्र का चौथा खंभा भी समाज पर खड़ा है। जन को आधार बनाकर खड़ा है। संपादकों या मालिकों के दबाव में न आने की बात भी इसमें शामिल है। सरकार, संपादक, मालिक या किसी अन्य के कहने पर किसी के बारे में कुछ भी लिखने वाला पत्रकार कहलाने लायक नहीं हो सकता है। आज पत्रकारिता ने संस्थागत स्वरूप ले लिया है लेकिन कोई भी संस्था तभी तक रहती है जब तक उसके मूल्यों में गिरावट नहीं आती है। उम्मीद है उत्तराखण्ड में पत्रकारिता की मशाल लेकर चलने वाले इसे याद रखेंगे।

विमर्श

दाताराम चमोली

मैं भी पिछले 15 सालों से मीडिया से जुड़ा हुआ हूँ तो मेरा अनुभव है कि सरकार अमर उजाला या जागरण जैसे मध्यम अखबारों के मालिकों की साजिश और मिली भगत के तहत छोटे अखबारों को समाप्त किया गया है। क्योंकि छोटे अखबारों के कोटे के विज्ञापनों को बड़े अखबारों ने हड़प लिया। जो छोटे अखबार, पत्रिकाएं थी वो आर्थिक कारणों से ही बंद हुईं। आपने कहा कि वैकल्पिक मीडिया को स्थापित करने की जरूरत है। लेकिन वैकल्पिक मीडिया को स्थापित करने का तरीका क्या होगा?

विजय शंकर चौधरी

मैं थोड़ा विषय बदल रहा हूँ जो मीडिया से ही जुड़ी बात है, उसकी भूमिका से जुड़ी है। जो अमर उजाला या जागरण की स्थिति है, नैनीताल में जितने बड़े-बड़े अक्षरों में झील के ऊपर छा गया है वो। वो गांव में भी छा गया है। उसके जो खतरे हैं आप लोगों ने भी गिनाए। खतरे इस तरह के हैं कि वो एक विचार बनाने की तरह, गाइड की तरह काम करते हैं। जबकि सूचना नहीं देते। और सूचना भी देते हैं तो जिस तरह की सूचना देते हैं, उसमें जो अपने हित साधना होती है और उससे आप सभी लोग परिचित हैं।

मैं बात वहां से शुरू करता हूँ जहां पाठक जी ने कहा कि सिर्फ सूचना ही नहीं जाती है ऐसे अखबारों में एक बड़ा हिस्सा विज्ञापन का जाता है और ये विज्ञापन सिर्फ अखबार के मालिक के लिए ही नहीं हैं ये विज्ञापन दरअसल इस तरह के उपभोक्ता उत्पादों के जो निर्माता हैं, जो बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां हैं उनके हितों की बात है। तो सिर्फ मालिक नहीं बल्कि

मल्टीनेशनल्स के हित जो अब गांव तक पहुंच आये हैं और उनको अपने एक नये मार्केट की तरह इस्तेमाल करने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बना रहे हैं तो उसमें अखबार की थोड़ी छोटी सी भूमिका है।

मैं विषयांतर जहां से करना चाहता था वो है 'टेलीविजन'। उत्तराखण्ड जैसी जगह में टेलीविजन के माध्यम से सूचना के अलावा जिस तरह की चीजें आने के प्रभाव से पूरी की पूरी सामाजिक सोच ही बदलती जा रही है। उस सोच को एक नये मार्केट की तरफ धक्का देकर उनके पास जो भी, जैसे भी प्राप्त धन है, उस पर खर्च करने के लिए भी विवश करता है।

एक बार मैं दिल्ली के एक पिछड़े इलाके में गया वहां मैंने छोटे बच्चों से पूछा कि तुम क्या खाते हो तो उसने कहा कि मैगी खाता हूं। हमने पूछा कि तुमको मैगी के लिए पैसे कौन देता है, क्योंकि वो तो पांच या दस रुपये का आता है, तो उसने कहा कि हम अपने माता-पिता से एक बार मांगते हैं अगर वो दे दें तो ठीक नहीं तो हम दूसरी बार रो-पीटकर मांगते हैं और उन्हें झक मारकर देना पड़ता है। तो वहां सिर्फ दैनिक जागरण या अमर उजाला नहीं पहुंच रहे हैं बल्कि पेप्सी, कोकाकोला आदि भी पहुंच रहा है। आप सब लोगों को ताजा तरीन याद होगा कि किस तरह उन्होंने पूरे पहाड़ के पहाड़ पेप्सी-कोला में बदल दिये।

तो ये जो संस्कृति के ऊपर वर्चस्व बनाने की कोशिश है, इसके नतीजे के तौर पर एक गांव की जो महिला जो वहां पर अच्छी सी काम चलाऊ चाय वहां उगाती थी वो उसे छोड़कर, रेड लेबल और ग्रीन लेबल पर आ जाती है। अपने पारम्परिक परिधानों को छोड़कर, वो सिंथेटिक कपड़ों पर आ जाती है। आप ये देखते हैं कि सौन्दर्य प्रसाधन जो अपनी तरह की स्थानीय जड़ी-बूटियों से मिलते हैं, वे अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बिकने शुरू हो जाते हैं और हद यहां तक हो जाती है कि अगर सिरदर्द हो जाए तो स्थानीय जड़ी-बूटी की बजाय डिस्पिन या एस्पिन की तलाश में निकल जाती है।

तो इस प्रकार से उपभोक्तावाद के साथ एक अप संस्कृति आती है। अप संस्कृति इस तरह से कि आप उसका मूल्यांकन करने लगते हैं या अपने वस्तुओं से बेहतर साबित करने लगते हैं। जो सिंथेटिक है, वो हमारे फाइबर से बेहतर है। तो जो ये इस तरह देखने की ताकत गांव के लोगों को दी, जो कि पहले नहीं थी, किसने दी? या दूसरे अर्थों में देखें एक सास और बहू के संबंधों की व्याख्या उसके सामने करना शुरू कर देते हैं, या उसमें विवाहेत्तर संबंधों के आयाम दिखाना शुरू करते हैं तो वो महिलाएं जब बड़ी दिलचस्पी से इसे देखती हैं तो उनकी सोच में भी एक बदलाव आना शुरू हो जाता है। तो यही सोच जब एक अपसंस्कृति के रूप में विकसित होती है तो इससे बाजारवाद का तो विकास होता ही है साथ-साथ किसी भी चीज को देखने में जनता की जो स्वतंत्र, वस्तुपरक चेतना होती है उसमें भी एक ह्रास होता है।

दरअसल मैं जानना चाहता हूं कि अभी तक उत्तराखण्ड में ऐसी स्थिति किसी बड़े रोग के तौर पर नहीं फैली है। इसलिए इससे बचने के कुछ उपायों को अपनाकर इससे बचा जा सकता है। क्योंकि हमारे पास परंपरा के रूप में कई अच्छी चीजें भी हो सकती हैं बस उन्हें पहचानने और उन पर विश्वास करने की आवश्यकता है।

डॉ. के.एन. भट्ट

सुरेश जी ने अपने अंतर्द्वंद्व को, अपनी आत्मकथा के रूप में पत्रकारिता से जोड़कर प्रस्तुत किया उसे सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। बड़े निर्भीक तरीके से आपने अपने धर्मांतरण की कहानी बताई। किसी समाज के विकसित होने का एक सूचक यह भी है कि वहां जनचेतना को जगाने के लिए कितनी ज्यादा पत्र-पत्रिकाएं हैं। सौभाग्य यह है कि उत्तरांचल के निर्माण के बाद इनकी संख्या में बेतहाशा न कहीं तो निश्चित ही वृद्धि हुई है। हमारी जो बहस है, जो अंतर्द्वंद्व चल रहा है— सरकार के विकास की प्रक्रिया का और लोक की सोच की प्रक्रिया का, वो उसमें अभिव्यक्त

हो रहा है। कहीं कम हो रहा होगा, कहीं ज्यादा हो रहा होगा। कहीं अमर उजाला वो लटिया लेकर दूसरे पेज तक जारी कर रहा होगा तो कहीं सुरेश जी भी कुछ लिख रहे होंगे। यह एक सकारात्मक सूचक है।

आकाश जोशी

मैं पत्रकारिता से सीधे-सीधे नहीं जुड़ा हुआ हूँ। हालांकि मैं इस व्यवसाय में लम्बे समय से हूँ और उत्तरांचल से लगाव रखने के कारण दिल्ली में एक उत्तरांचल पत्रिका भी चला रहा हूँ। पत्रकारिता कैसी हो यह तो आदर्शों की बात है। आदर्श तो अच्छे ही होते हैं। उनको कार्यरूप देने में भी काफी समस्याएं आती हैं। इन समस्याओं का निदान सुव्यवस्थित ढंग से किया जाए और मेरे ख्याल से एक संतुलन बनाकर चला जाए तो अच्छा हो।

गोविन्द सिंह

खास तौर से चौधरी जी ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के खतरों की ओर जो इशारा किया उसके बारे में कुछ बोलना चाहता हूँ। आप लोगों को याद होगा दो साल पहले – अल्मोड़ा की सहयोग संस्था के बारे में खबरें छपी थी कि किस तरह से उसने अनुदान लेने के लिए एड्स के बारे में वहां की समस्या को बहुत ही तोड़-मरोड़ कर एक रिपोर्ट में पेश किया। फिर उसको स्थानीय जनता ने, खासकर के पत्रकारों ने उठाया। उसका मुंहतोड़ जवाब दिया। उसको गिरफ्तार करवाया। फिर उसके बाद शायद वो अल्मोड़ा नहीं आ पाया। ये सांस्कृतिक खतरा वाकई बहुत बड़ा है। यह तो एक ए.जी.ओ. का खतरा था लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया वाकई घनघोर संकट बनता जा रहा है। इन्होंने कहा कि जहां बिजली नहीं है वहां टी.वी. नहीं पहुंचा है लेकिन मेरे ख्याल से वहां भी सौर

ऊर्जा के जो खम्बे लगे हुए हैं उनके जरिये टी.वी. पहुंच गया है। लोगों ने दिल्ली से ले जाकर के 10 हजार रुपये का डिस्क अपनी छत पर गाड़ लिया है और लोग टी.वी. देख रहे हैं।

आप सोचिए कि दिल्ली में जब आप टी.वी. देखते हैं तो बच्चों से यह कहते हैं कि एम.टी.वी या वी.टी.वी. न देखें। मतलब दिल्ली के बच्चे जो पहले ही बहुत ज्यादा बाहरी चीजों के बारे में जानते हैं, तरह-तरह की चीजें जानते हैं। उनको भी हम उन चीजों से दूर रखने की कोशिश करते हैं। लेकिन पहाड़ में वो सब चीजें बड़े खुले तौर पर देखी जा रही है। वहां कोई रास्ता नहीं है। जो लोगों और पीढ़ियों के बीच भयानक फासले आते जा रहे हैं। एक तो जिन गांवों में लोगों ने फिल्म नहीं देखी थी, वो भी आज फिल्म देखने के लिए कई किलोमीटर स्थित सिनेमाघरों तक जा रहे हैं। वहां जो लोग कभी फिल्म देखने से भी वंचित रहे हों उन गांवों में एम.टी.वी. या वी.टी.वी. देखा जाएगा तो वहां के लोगों में कैसा असर पड़ेगा? मुझे तो लगता है कि आने वाले दस-बीस वर्षों में हमारे यहां बड़े भयानक रूप से मनोरोगी पैदा होंगे। खासतौर पर बड़ी तेजी से लड़कियों में जो मानसिक बीमारियां हैं वो बढ़ रही हैं। मेरे पास कोई आंकड़े नहीं है, लेकिन मुझे ऐसे दो-तीन विषय मालूम पड़े हैं। पहले तो यह कहते थे कि देवी लगी है, परी लगी है, ये लगी है, वो लगी है, गांवों में ही झाड़-फूंक करके ठीक कर लेते थे। लेकिन अब पता चल रहा है कि वो मानसिक रोग हैं। पहाड़ में ये समस्याएं दस-बीस साल के बाद बहुत तेजी के साथ बढ़ेंगी। इसलिए जो चौधरी जी की समस्या थी और जो मैंने अपने पहले के वक्तव्य में भी कहा कि जो स्थानीय आंदोलन हैं उनकी बड़ी भूमिका है। जिस तरह से सहयोग के खिलाफ लोग इकट्ठा हुए, एकजुट हुए और सहयोग को एक पाठ पढ़ाया तो उसी तरह से यदि इन चीजों के खिलाफ भी लोग इकट्ठे हों तो निश्चित रूप से उसका असर पड़ेगा।

अभी राष्ट्रीय स्तर पर अखबार कोई गलत चीज छापते हैं तो आपके पास प्रेस काउंसिल है, हालांकि उसके पास भी कोई कानूनी अधिकार नहीं है, लेकिन फिर भी वह अखबार को एक प्रताड़ना लगा सकती है। उस तरह से टेलीविजन के खिलाफ कुछ भी नहीं है। ब्राडकॉस्टिंग

काउंसिल बनने की बात है लेकिन जब वो ब्रॉडकास्टिंग बिल बन जाएगा तभी आएगा। इसी तरह से विज्ञापनों के बारे में भी कोई अच्छा सिस्टम नहीं है। एडवरटाइजिंग स्टैंडर्ड कॉउन्सिल ऑफ इंडिया एक संस्था है जो मार्गदर्शन कर सकती है। दिशा—निर्देश देती है कि ऐसे—ऐसे विज्ञापन न दिये जाएं। लेकिन उसके लिए भी वही पुराना पारम्परिक कानून है। नई स्थितियों को ध्यान में रखते हुए कोई कानून नहीं है। कोई संस्था नहीं है। इसलिए इसमें निश्चित रूप से जन आंदोलन की, स्थानीय संस्थाओं की भूमिका बढ़ जाती है। पहाड़ में ये संस्थाएं लुप्त इसलिए हो गयी हैं क्योंकि वहां ढेर सारे एन.जी.ओ. खुल गये हैं। जितनी भी पहाड़ की प्रतिभाएं थी, जिनके मन में कुछ करने का जज़्बा था वो सब एन.जी.ओ. में जाते हैं और फिर बदनाम हो जाते हैं। मतलब उस ढर्रे में, उस तंत्र में फंस जाते हैं। तो हमारे सामने ये एक एक बड़ी भारी चुनौतियां हैं पता नहीं इनका समाधान कैसे निकलेगा, जो वहां के लोग है इसे वो ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

सुरेश नौटियाल

चौधरी साहब ने बहुत ही गंभीर सवाल उठाया है। मैं तब से यही सोच रहा हूं कि मुझे बोलना पड़ा तो मुझे क्या कहना होगा। मैं दो—तीन छोटी—छोटी घटनाएं आपको बताता हूं। मेरा जन्म गांव में हुआ था और मैं वहीं पला—पढ़ा। तब कोई विज्ञापन का माध्यम भी नहीं था। रेडियो भी गांव में बहुत कम हुआ करते थे। टी.वी. तो था ही नहीं। तो हम यह समझते थे कि जिस भी साबुन पर बाहर से कागज लगा होता है, वह नहाने का साबुन होता है। हम लोग सनलाइट साबुन से नहाया करते थे। हमें लगता था यह नहाने का ही साबुन है। बहुत बाद में दिल्ली से कोई गया तो उसने कहा कि यह कपड़े धोने का साबुन है। लेकिन अभी मैं दो—चार साल पहले

की घटना है मैं अपने गांव में वहां के पारम्परिक धारे पर नहाने के लिए गया तो वहां मैंने एक दो रुपये वाले तरह-तरह के शैम्पू के पाउच देखे। आप यकीन करें या न करें वो वहां पानी में पड़े हुए थे। तो जो उपभोक्तावाद है वो आपके घर और कमरे तक घुस गया है। एक विज्ञापन आजकल टी.वी. पर आ रहा है, उसमें यह दिखाया गया है कि एक बहू सास के पैर दबा रही है। अचानक बहू का कोई लौट्टी का टिकट निकलता है या ऐसा ही कुछ निकलता है तो अगले ही शॉट में दिखाया जाता है कि बहू नाच रही है और उसके बाद बहू के पैर सास दबा रही है। और पूछ रही है तुम्हारे लिए क्या बनाऊं। यह व्यंग भी हो सकता है लेकिन आप यह देखिये कि इस तरह के विज्ञापन का उस महिला पर क्या असर पड़ेगा जिसके बारे में अभी गोबिन्द जी ने कहा। जो सांस्कृतिक दूरी है वहां से लेकर यहां तक वो बहुत है। तो इसका असर निश्चित तौर पर वहां पड़ेगा। एक ऐसा ही विज्ञापन समाचारों के बीच में आता है। वो अंडरवियर का विज्ञापन है उसको यदि अपने परिवार के बीच में बैठकर समाचार देख रहे हों तो उसमें से किसी न किसी सदस्य को उठकर जाना पड़ता है। तो इस तरह का ये जो उपभोक्तावाद बढ़ रहा है, यह खतरे पैदा करता है। इसमें हिंसा का भी एक पुट है। कई विज्ञापन हिंसा की ओर इशारा करते हैं। उससे बच्चों के मन पर बहुत ही कुप्रभाव पड़ता है। हो सकता है कि वह पूरे जीवन भर उससे मुक्ति न पा सके। जैसे मैं अभी भी अपने गांव में अंधेरे कमरे में अकेले नहीं जा सकता। क्योंकि मेरी मां बचपन में मुझे डराया करती थी कि यहां फलाना बैठा है वगैरह-वगैरह। मुझे मालूम है कि कुछ नहीं है वहां लेकिन मैं अभी भी डरता हूं, क्योंकि बचपन से ही वो मेरे मन में अंकित हो चुका है। सवाल था कि इससे कैसे निपटा जाय। तो मान लिया जाय अखबार हैं, हम यह मानें कि दैनिक जागरण है या अमर उजाला है वो उत्तराखण्ड में बिकता है। इसमें कोई गलत विज्ञापन छपता है या गलत खबर छपती है तो स्थानीय जन संगठन उसका विरोध कर सकते हैं और करते रहे भी हैं। लेकिन जहां तक टी.वी. चैनल का सवाल है तो उत्तराखण्ड में तो ऐसा कोई स्थानीय चैनल है नहीं, होगा भी तो बहुत छोटे तौर पर चल रहा होगा। तो यह राष्ट्रीय प्रयास से ही संभव है।

और राष्ट्रीय स्तर पर जब वैकल्पिक मीडिया की नीति बनती है, यह तभी संभव है। और तभी इस तरह के जो सांस्कृतिक ह्रांस इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के जरिये उत्तराखण्ड में हो रहा है वह भी बंद हो सकता है। इसके लिए पूरे राष्ट्रीय स्तर पर जागरूकता की आवश्यकता है, जैसे इन्होंने कहा कि इसके लिए राष्ट्रीय रेगुलेटरी कमीशन भी बनना चाहिए या बन रहा है। उसके बिल की बात चल रही है।

फिल्मों को कहीं सेंसर बोर्ड से पास होना पड़ता है। उसी तरह से यह अनिवार्य होना चाहिए कि विज्ञापनों के लिए भी इस तरह का एक बोर्ड हो, जिसके पास कानूनी शक्तियां हों। हर विज्ञापन को उससे अनुमति प्राप्त ही होनी चाहिए। तभी हम इन चीजों से बच सकते हैं ऐसी मेरी राय है। अन्यथा मुश्किल है। इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर ही कुछ होगा तो बात बनेगी। क्योंकि उत्तराखण्ड भी उसी देश का हिस्सा है। अब तो विदेशी चैनल इतने आ रहे हैं कि यदि आपने अपने देश के चैनल्स पर नियंत्रण कर भी लिया तो विदेशी चैनलों पर कैसे करेंगे। इस देश में एक टी.वी. चैनल को लेकर बहुत हल्ला हुआ। अब कई केबल वाले उसको दिखाते नहीं है। इस तरह के जो सांस्कृतिक संकट हैं इनके लिए हम अपने आप को मानसिक तौर पर तैयार करें। उसके बहकावे में न जायें। उसमें जो गलत बातें हैं उन्हें हम न लें। इस तरह की अखबार उसमें अपनी भूमिका निभा सकते हैं। अन्यथा इसका जवाब मुझे मुश्किल ही नजर आ रहा है।

राजेन्द्र धस्माना

विजय चौधरी का सवाल इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को लेकर था – इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सिर्फ टी.वी. नहीं है। आप कम्प्यूटर में भी फिल्में देख सकते हैं। उसको आप कहां से बचाएंगे? जहां तक एक्ट की बात कर रहे हैं उसका ड्राफ्ट तैयार है सिर्फ वो पास ही नहीं हुआ। इसके मुख्य मुद्दे ये हैं कि जिसका अखबार है वो टी.वी. चैनल का मालिक नहीं बन सकता है। उसको इलेक्ट्रॉनिक मीडिया

का लाइसेंस नहीं दिया जाएगा। कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन पर बहस होनी है। जैसे क्षेत्रीय टी.वी. आप बना सकते हैं। आप उत्तराखण्ड में किसी संस्था का टी.वी. बनाना चाहें तो बना सकते हैं। बिल में ये प्रावधान हैं। देखिए जो कंट्रोल होगा इस बिल के बाद भी, अधिनियम बनने के बाद वो तब होगा जबकि सारे चैनल यहां से लिफ्ट करने का काम करेंगे। अभी जो डाउन लिंकिंग है उसमें आप किसी को नहीं रोक सकते। यहां तक कि आपका बिल भी नहीं रोक सकता। आपका अधिनियम सीधे डाउन लिंकिंग जा रहा है तो उसमें आप कहीं नहीं रोक सकते। अगर स्टार भी यह कहेगा कि वहां से भी डाउन लिंकिंग करूंगा, दिल्ली में ही बनाउंगा और दिल्ली से ही दिखाउंगा तो वो कानून लागू नहीं होगा। अभी ऐसे उपकरण बन चुके हैं जिनकी यहां पर अनुमति नहीं है कि आप सेटेलाइट से जैसे कम्प्यूटर में लेते हैं वैसे ही सीधे अपनी टी.वी. में ले लीजिए। अब यह है कि भई इलैक्ट्रॉनिक्स मीडिया असर तो करता है। और इतने हद तक करता है कि मैं अभी दो साल पहले गांधी का जो सी.डी. रोम बन रहा था उसमें मैं एडवाइजर था। उसमें मेरे हाथ एक लेख पड़ा जो कि उन्होंने न जाने कहां बदल दिया। उसमें लिखा था कि टी.वी. में ऐसे कई अनुभव किए जा रहे हैं कि जैसे लाइट आती है.... लाइट ऐसे आएगी फिर डिम हो जाएगी.... फिर तेज आएगी फिर डिम हो जाएगी, उसका एक निश्चित समय है कि बार-बार ऐसे आयेगी फिर यूं हो जाएगी। ऐसे 'आज तक' कार्यक्रम के बीच में एक-एक शब्द भी गायब हो गये। मैंने आपसे भी (गोबिन्द सिंह) कहा था कि इसको किसी तरह बदलवाओ। तो उसने लिखा था कि अगर इसे साल भर तक किसी देश में दिखा दें तो लोग आधे पागल हो जाएंगे। ये अनुभव हैं। लड़ने की जरूरत नहीं है आपकी ये तरंगें भी आदमी को अर्द्ध विक्षिप्त कर देंगे। पर यह भी है साथ में कि अभी मैंने अपने छोटे नाती से यह कहा कि भई हम तो टी.वी. देखते नहीं हैं, तुम इतना क्यों देखते रहते हो, तो वो कहता है कि जरूरी है कि तुम नहीं देखते हो तो हम भी न देखें। आपकी उम्र में और मेरी उम्र में कितना बड़ा फर्क है। आप तो बहुत सारा देख चुके हैं।

अभी हमारे यहां दो महिने पहले तीन दिन तक केबल्स बंद हो गये। सब परेशान हो गये। मेरी पत्नी भी उनमें से एक है। वो विक्षिप्त हो गयी कि सुबह से शाम तक क्या करें? आदत पड़ गयी ना। ऐसा भी है कि इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का जो असर पहले हुआ करता था वो धीरे-धीरे गायब भी हो जाता है। आदमी उसको सह लेता है। जैसे एक बार मेरी सगाई हुई, लड़की के पिताजी मुझे उसकी फोटो देकर गये। उस फोटो को मैंने चालीस दिन तक सिरहाने रखकर सोता रहा। मुझे उससे सपने में बातचीत करने का मौका मिलता था, मैं उससे बहुत अधिक आसक्त हो गया था लेकिन उसने मुझसे शादी नहीं की। बाद में मैं पागल जैसा हो गया। फिर उन्होंने कहा यह तो नौकरी नहीं करता हैं। झूठ बोलता है। पता नहीं उन्होंने कहां से पता लगाया ? उस औरत को मैंने अभी देखा वो रूद्रपुर में डाक्टर है। अब वो फोटो वाली नहीं रही। उसके तो दांत बिल्कुल इतने चौड़े-चौड़े हो गये। मेरी पत्नी से भी ज्यादा, (सामूहिक ठहाका) देखिए एक उम्र होती है जिसमें ऐसा असर होता है और धीरे-धीरे वो सब सामान्य हो जाता है। पर इसके असर से बहुत कुछ खत्म हो सकता है। तो मैं उसके लिए यह कह रहा था कि देखिए इलाज तो कुछ नहीं है कोई कानून भी इसका इलाज नहीं है। सामान्तर रूप से हम कह सकते हैं कि कोई पुरालेखागार खुलें। कोई संग्रहालय हो जिनमें हम अपनी धरोहर को रख सकें। डॉक्यूमेंटरी ज्यादा बनें, उनको सुरक्षित रखें। मगर जिस रफ्तार से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया चलता है वो अपने बस का तब तक नहीं है जब तक उतना ही पैसा हम लोगों के पास न हो। इसका जवाब सिर्फ यही है कि अंशतः आप उनका विरोध कर सकते हैं। विरासत के रूप में आगे के लिए धरोहर के रूप में भी रख सकते हैं। बना भी सकते हैं प्रोग्राम, एक जमाना आएगा जबकि क्या पता किसी के दिमाग में आये कि भई वेटर वर्क कौन सा है, कोई तुलना करने ही लग जाय। इतनी हद तक हम इनका रेजिस्ट कर सकते हैं।

विजय शंकर चौधरी

मुझे लगता है कि पहले के जमाने में युद्ध करने के जो तरीके हुआ करते थे, वो ऐसे थे कि सामाजिक विकास के बाद भी उन तरीकों का प्रयोग किया जा सके। अगर आपके खिलाफ बहुत बड़ी सेना खड़ी है और उनकी तुलना में आपकी संख्या कम है तो आप मरेंगे कटेंगे और क्या होगा। इस बात की जरूरत शिवाजी ने समझी और उन्होंने गुरिल्ला युद्ध करने की बात की। क्योंकि सीधे तौर पर तो तुम सल्तनत से भिड़ नहीं सकते। तो गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से पूरी तरह से जीता तो नहीं जा सकता लेकिन उसका असर जागरूकता फैलाने के लिए होता है। आप सीधे तौर पर किसी के भी शासन पर कब्जा नहीं करते हैं। लेकिन किसी भी शासन के खिलाफ जो एक स्थिति बनाये रखते हैं, उसकी बहुत बड़ी भूमिका होती है। यह इस तंत्र में संभव है। ये कहीं संभव नहीं है कि आप दूसरा टेलीविजन सेंटर खोल लेंगे और चैनल चला लेंगे। लेकिन यह संभव है कि आप लोगों को जिस तरह का ज्ञान दे रहे हं लोगों को डिस्क के आधार पर जो भी जानकारियां दी जा रही हैं तो इस तरह के ज्ञान से ज्ञान की लड़ाई हो सकती है। वहां पर जन आंदोलनों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है।

अगर आपको टेलीविजन बार-बार यह बताए कि सिरदर्द के लिए डिस्प्रिन ही खानी है तो आप ज्ञान के स्तर पर लोगों को बता सकते हैं कि यह जड़ी-बूटी इससे ज्यादा बेहतर है। हो सकता है बात समझ में न आये लेकिन इसका असर होगा। उसके लिए संगठित प्रयास की जरूरत है। उस संगठित प्रयास से मैं यह नहीं कहता कि टेलीविजन निकल जाएगा। आप कोई समांतर ढांचा न खड़ा करें लेकिन लोगों को जानने-समझने का एक अवसर तो दें। जाहिर है कि इसमें पैकेजिंग बहुत मतलब रखती है। वो पत्रकारिता के संदर्भ में किसी ने कहा कि अगर उजाला के रंगीन कवर होते हैं और जो भाषाई पत्र हैं वो ब्लैक एण्ड व्हाइट में होते हैं। दूर से आदमी देखता है तो रंगीन पेपर में उसे उत्सुकता रहती है। आप उसे खरीद लेते हैं। ब्लैक एण्ड व्हाइट आप में

उत्सुकता नहीं जगाता है। वही हाल है कि उस तरह की प्रोग्रामिंग नहीं हो सकती है। लेकिन अगर हमारे पास स्रोत हैं हमारे पास तो ज्ञान को जिन्दा रखने की कोशिश जन आंदोलन का हिस्सा बन सकती है तो इससे बहुत फर्क पड़ने की संभावना है, यह मेरा मानना है।

शेखर पाठक (अध्यक्षीय वक्तव)

ऐसा नहीं है कि पत्रकारिता एकदम जन्मजात ही क्रांतिकारी होती हो। जब पहली बार 1867 में उत्तराखण्ड में प्रेस आयी तो उसके माध्यम से 'समय विनोद' नामक अखबार निकला था फिर उसके दो साल बाद 'अल्मोड़ा अखबार' निकला था। वो बहुत ही स्थानीय किस्म का, सरकार परस्त, अंग्रेज परस्त अखबार था, क्योंकि उस समय सामाजिक चेतना उसी तरीके की थी, और 50 साल बाद वही अल्मोड़ा अखबार इस आरोप में बंद कर दिया गया कि यह सरकार विरोधी हो गया है। उससे 6000 रुपये की जमानत मांगी गई, क्योंकि उसने अल्मोड़ा के जिलाधिकार के खिलाफ इतना खतरनाक संपादकीय लिखा। उस समय पौड़ी का जो मशहूर अखबार था; पुरुषार्थ। उसने टिप्पणी की कि एक फायर से तीन शिकार, कुली, मुर्गी और अल्मोड़ा अखबार। क्योंकि जंगल के नियमों के खिलाफ वो जिलाधिकारी गर्मी के महीने में शिकार करने के लिए स्याही देवी के जंगल में गया। उसने मुर्गी भी मारी, बाद में जंगल में आग भी लग गई और इसी खबर को छापने के कारण अल्मोड़ा अखबार भी बंद हो गया। ये अल्मोड़ा अखबार पूरे 48 साल चलने के बाद बंद हुआ और इस आरोप में बंद हुआ जो कि उसके जन्म के समय उसके प्रारंभिक एजेंडे में कहीं भी नहीं था।

उसके बाद शक्ति का उदय हुआ। 1898 में जब अल्मोड़े में शक्ति का उदय हुआ तब से लेकर 1948 तक शक्ति की एक जबरदस्त राष्ट्रवादी भूमिका रही। शक्ति केवल एक साप्ताहिक अखबार नहीं था बल्कि एक तरह की खिड़की थी, जहां से उत्तराखण्ड के लोग न सिर्फ अपने अंचलों में

ही झांकते थे बल्कि उसका एक दूसरा दरवाजा देश की तरफ खुलता था और पूरे देश के हालात भी वहां पता चलते थे। गांव में अगर 'शक्ति' का एक अंक जा रहा है या माना 'गढ़वाली' का तो पर्याप्त होता था। अखबार को 'बांच' करके लोगों को सुनाने की परम्परा थी। एक गांव में एक अखबार आ रहा है तो एक आदमी पढ़ रहा है बाकी लोग सुन रहे हैं। जैसा गोविन्द अपने बचपन के जमाने का संस्मरण सुना रहे थे। पिथौरागढ़ का एकमात्र अखबार उत्तराखण्ड ज्योति अगर प्राइमरी स्कूल में जाता था तो 'हैडमास्टर साहब' सभी को सुनाते थे और वो सबके लिए बहुत बड़ी बात होती थी। हालांकि बहुत सामान्य अखबार था लेकिन अकेला अखबार था। दिल्ली का अखबार पांचवे-सातवे दिन पहुंचता था। उस जमाने में तो हमारी खबरें ही, कि तवाघाट में 1977 में अगर 45 लोग मरे तो उसकी खबर 15 दिन बाद तब आयी जब हमारे बहुत से साथी वहां से लौट के आये। 'अज्ञेय' जी नवभारत टाइम्स के संपादक थे तो वो 15 दिन पुरानी खबर को नवभारत टाइम्स की हैडलाइन में ले आये। उन्होंने कहा कि 15 दिन बाद भी ये खबर अर्थवान है, न नेता गया, न प्रशासन गया, आदि-आदि।

1930 में मोहन जोशी ने 'स्वाधीन प्रजा' के नाम से एक मशहूर अखबार निकाला था। 15-20 अंकों के बाद ही उससे जमानत मांग ली गई और वो बंद हो गया। शक्ति का तो हर संपादक जेल में गया। बद्री दत्त पांडे, मोहन जोशी, पूरनचंद तिवारी उसके बाद देवीदत्त पंत उसके बाद कोई और ये सब के सब गिरफ्तार हुए थे। क्योंकि ये सबके सब राष्ट्रवादी नेता भी थे। राम सिंह धौनी गिरफ्तार तो नहीं हुए लेकिन उनसे दो बार जमानत मांग ली गई। उसके बाद वो बम्बई चले गये। स्वाधीन प्रजा का एक संपादकीय था कि गवर्नर जो उत्तर प्रदेश का लार्ड था, जिसको उस समय लेफ्टिनेंट गवर्नर कहते थे, वो पिण्डारी की यात्रा में गया, उस पर मोहन जोशी ने 'पिण्डारी की सैर' करके एक संपादकीय लिखा और अगले ही अंक में जमानत मांग ली गई। अखबार बंद हो गया। फिर एक दो साल चला फिर बंद हो गया। ऐसे ही जाग्रति जनता नाम अखबार निकला। फिर 42 से 45 तक उत्तराखण्ड का हर साप्ताहिक अखबार बंद हो गया।

आजादी के बाद परिदृश्य बदल गया। जिनको प्रतिपक्ष का खेल अदा करना था वो सब सरकार में आ गये। तो अखबारों की जो पुरानी परम्परा थी वो बहुत सालों तक धूमिल रही। लेकिन फिर भी अपने वक्तव्य में सुरेश ने जिन अखबारों का जिक्र किया है वह आजादी के बाद भी अपनी भूमिका अदा करते रहे। जैसे—कर्मभूमि। भरत धूलिया ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया कि मैं उस पार्टी में रहकर स्वतंत्र अखबार नहीं चला सकता। जबकि बाद में वो एम.एल.ए. भी बने तो स्वतंत्र बने। तो उस जमाने में उनमें इतनी बड़ी स्वायत्तता की भावना। युगवाणी जो टिहरी का प्रमुख पत्र था, सन 1948 से लेकर आज तक निरंतर चला आ रहा है और वहां के मुद्दों को उठाता रहा है। और आज बहुत सारे और अखबार जिनमें नैनीताल समाचार से लेकर पौड़ी तक के अखबारों की चर्चा है वो बखूबी रोल अदा कर रहे हैं।

लेकिन जिन गोविन्द ने अखबारों को तीन वर्गों में बांटकर विश्लेषण किया क्योंकि वहां राष्ट्रीय अखबारों का कोई श्रेय ही नहीं रह गया। नैनीताल में जिस 'जनसत्ता अखबार को हम सबसे अच्छा अखबार मानते हैं उसकी कॉपियां घटते-घटते 20-25 में आ गई है। नवभारत टाइम्स, हिन्दुस्तान की संख्या भी बहुत ज्यादा नहीं है, अमर उजाला और जागरण ये दो अखबार जबरदस्त तरीके से छाए हुए हैं। क्योंकि उसमें आपके भतीजे, आपके चाचा, नेताजी के ये-वो-फलाना, सब खबरें आती है। उत्तराखण्ड आंदोलन की भी जब खबरें आती थी तो मुद्दे नहीं आते थे कि आज के जुलूस में क्या निकला, क्या कहा गया, बल्कि उसमें लगभग 132 नाम होते थे और कृप्या शेष पेज नम्बर 13 में देखें, तो वहां भी आपके नामों का सिलसिला चलेगा और दूसरे दिन ये भी होगा कि फलां-फलां का नाम नहीं आया। एक ऐसी परम्परा शुरू कर दी थी जिससे मुद्दे उजागर नहीं होते थे बल्कि नाम उजागर होते थे। देहरादून में तो अनेक बार मारपीट हो जाती थी कि मेरा नाम नहीं आया, क्योंकि देहरादून में बहुत बड़े जुलूस निकलते थे। दिल्ली में भी इस तरीके की बात उस समय हुई।

फिलहाल, ऐसा नहीं है कि पूरी की पूरी पत्रकारिता तिरोहित हो गई हो। बहुत सारे अखबारों में जो न सिर्फ उत्तराखण्ड के पत्रकार थे, बल्कि दिल्ली के पत्रकारों ने भी, जो अंग्रेजी में भी लिखने वाले थे बहुत ही संतुलित और बहुत ही अच्छे लेख लिखे। उन्होंने बहुत आलोचना पूर्ण तरीके से भी लिखा। जिस समय हरीश खरे वहां आये, उसके बाद निखिल चक्रवर्ती, प्रेस इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया के भट्टाचार्य जी वहां आये उनके लेख बहुत ही तर्कपूर्ण थे। उन्होंने बहुत आम लोगों से मिलकर अपने विचार दिए थे। दूसरी ओर उत्तराखण्ड आंदोलन की जो कमियां थी उनको उजागर करने में हमारे अपने पत्रकार कभी नहीं कतराये। कुंवर प्रसून हमारे गढ़वाल के साथी हैं वे बहुत सारे अखबारों में लिखते रहे। उस दौर में जब उत्तराखण्ड आंदोलन की आलोचना में लोग कतराते थे उन्होंने लिखा। तो ऐसा नहीं है कि कलम के धनी वहां नहीं है। संकट इतना ही है कि ऐसा अखबार जो आपकी दिनचर्या का हिस्सा बन जाये ऐसा अखबार हम अपने समाज को नहीं दे सके हैं।

जो ये अखबार आ रहे हैं ये सिर्फ आपको सूचनाएं दे रहे हैं। शिक्षित नहीं कर रहे। वो सूचनाएं जिनको आप नहीं लेना चाहते हैं – फलाने की लाटरी खुल गयी, फलाने का ये, साबुन, शैम्पू आदि के बारे में जानकारी दे रहे हैं। परसों एक दिन अमर उजाला में फ्रंट पेज पर बालों का इतना बड़ा गुच्छा रखा हुआ था, हमने सोचा कि आज फ्रंट पेज पर क्या हो गया, पहले लगा कि कोई फोटो काट कर चिपका दिया गया है। फिर उसमें लिखा था कि शेष फलां पन्ने में देखिए। तो उसमें शैम्पू का विज्ञापन था वो। अमर उजाला के फ्रंट और लास्ट में कोई न्यूज ही नहीं थी, जब हमने उसका पहला पेज पलटा तब उसका असली पेज शुरू हुआ। यानी कि विज्ञापन के लिए वो कुछ भी कर सकते हैं।

अखबार का जो संडे अंक है, उसमें कोई रिव्यू नहीं आता है। फिल्म बहुत आएंगी। अब रोज फिल्म देख ही रहे हैं। अखबारों में कब तक आप फिल्म एक्टरों को देखेंगे, उन पन्नों में हमारे विषय आ जाते। चलो महिला पन्ने में आप हर बार जलेबी बनाने की विधि के बदले जीवन की

बहुत सी समस्याओं को देते। इसलिए एक वैकल्पिक मीडिया की गुंजाइश बनी हुई है। जो स्वायत्त हो, स्वतंत्र हो, जो किसी की भी गड़बड़ी इंगित कर सकता हो, ऐसे अखबार की हमें जरूरत है। ऐसा अखबार जो अपने आप की आलोचना करता हो।

मैं जब 'शक्ति' की या 'गढ़वाली' की फाइलें देख रहा था तो मुझे अनेक बार आश्चर्य होता था कि उस जमाने में हमारे जो पूर्वज थे, वो बहुत जबरदस्त संपादकीय लिखते थे कि मैं आपको एक बार की बात सुनाता हूँ कि गढ़वाली को एक अंक आता था उसमें तारादत्त गैरोला भी संपादकों की सूची में आते थे, तो 1909 या 1910 के अंक में सरौड़ा सभा ब्राह्मणों की एक सभा थी जो कहते थे कि ब्राह्मणों में शिक्षा बहुत कम हो रही है, हमें कुछ करना चाहिए। तारादत्त गैरोला उस सभा के अध्यक्ष थे, वे बड़े वकील, विधायक होने के साथ-साथ 1918 से 20 तक एम.एल.ए. के लिए चुने गए। न्यायिक फैसले पर उनकी एक किताब भी है।

दूसरी ओर उसी में हमारे सत्य सरण रतूड़ी जी थे जो कि गढ़वाली के एक कवि थे। जब उन्होंने सरौड़ा सभा बनायी तो रतूड़ी जी को बिल्कुल नहीं जंची। उन्होंने कहा ये क्या है? मतलब राष्ट्रवाद आ रहा है, देश जग रहा है, लोग समुद्र पार कर रहे हैं – जिसके लिए अल्मोड़ा में जापान आंदोलन हुआ था कि ब्राह्मण ने समुद्र लांघ लिया है, इसलिए उसको जाति से निकाल दिया गया। मशहूर राष्ट्रवादी कवि गौरदा के भाई को। तो वही उत्तराखण्ड अब जाग्रति की ओर आ रहा था। तो सत्य सरण रतूड़ी जी ने उस अखबार में संपादकीय लिखा, जिसके मुख्य संपादक तारादत्त गैरोला थे। उसका शीर्षक था 'सरौला सरके दादुर की टर-टर में' ये शीर्षक मैं कभी नहीं भूलता हूँ। सरौला माने वो ब्राह्मणों का गुप था। सर माने तालाब, दादुर माने मेढक की टर-टर। यानी कि उन्होंने अपने मुख्य संपादक रायबहादुर तारादत्त गैरोला को मेढक कह कर पुकारा कि तुम 1910 में आज उस आदिम जमाने की मानसिकता में रह रहे हो। इतनी स्वायत्तता उस अखबार के भीतर थी। यानी कि उस अखबार के तीन संपादकीय अपने-अपने तरीके से अपने मंतव्य अखबार को देते थे।

शक्ति में बद्रीदत्त पांडे को यदि कोई संपादकीय पसंद नहीं आता था तो राम सिंह धौनी और मोहन जोशी कहते थे कि हम इसमें कोई संशोधन नहीं करेंगे। हम यही संपादकीय छापेंगे, चाहे अखबार बंद हो जाए। और उसके बाद बहुत बार अखबार बंद होने की नौबत भी आ गई। ये उस स्वायत्तता का प्रदर्शन करते हैं जो पत्रकार अपने जोखिम पर लेते हैं। आपको आश्चर्य होगा कि अल्मोड़े का 'शक्ति' उस जमाने में टिहरी रियासत तक जाता था और देहरादून का 'गढ़वाली' पिथौरागढ़ तक जाता था, बहुत से गांवों में हमें उसकी फाइलें मिली। ये सब इस बात का संकेत है कि एक-एक अखबार उस जमाने में कितनी बड़ी भूमिका निभाता रहा।

आजादी के बाद भी वो क्रम चला। लेकिन फिर जो ये इस तरीके के अखबार आये उन्होंने उसको तोड़ दिया। और ये इस बात का भी प्रतीक है कि हमारे समाज में हर एक का अपना अखबार है। जापान की तरह पिता का अलग, पुत्र का अलग अखबार तो नहीं हुआ। हमारे यहां एक अखबार से काम चलाते हैं। लेकिन हमारे यहां उस तरह का अखबार नहीं आया जो लोगों को शिक्षा के स्तर पर भी आगे लाता हो, अन्य चीजों के लिए आगे लाता हो। पूरे समाज को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता हो।

उत्तराखण्ड में तीन मुख्यमंत्रियों के बन जाने के बावजूद किसी अखबार ने एक आलोचनात्मक संपादकीय लिखने का साहस नहीं उठाया। उत्तराखण्ड की सरकार ने जो पहला वन पंचायत अधिनियम बनाया उस पर किसी अखबार ने कोई संपादकीय नहीं लिखा, क्योंकि वो वन पंचायतों और उन एक्टों के बारे में जानते ही नहीं हैं कि जो नया एक्ट आया है वह कितना जघन्य है। उत्तराखण्ड सरकार की नयी पर्यटन नीति बनी उसके बारे में किसी ने कुछ नहीं कहा। उत्तराखण्ड की सरकार ने कुछ बड़े लोगों को नन्दादेवी सेंचूरी के भीतर जाने का अधिकार दिया जबकि वहां बगल के रहने वाले 'लाता' और 'रैणी' के लोगों को नहीं दिया, तो ये सब संपादकीय के विषय नहीं बने। बल्कि जिन अखबारों से हमसे बहुत सारे लोग जुड़े हुए हैं उन अखबारों ने भी ये प्रतिभा नहीं दिखायी कि हम एक-एक मुद्दे को इस तरह उठा सकें। आपको आश्चर्य होगा

कि आज से 10 साल पहले हमारे साधनहीन साथी कहीं पर भी कोई प्राकृतिक आपदा हो वहां दूसरे दिन पहुंचने वाले लोगों में होते थे। वहां इन्द्रमणि बडोनी, कमलाराम नौटियाल, सुंदरलाल बहुगुणा, चन्डीप्रसाद भट्ट आदि सभी मिल जाएंगे और सभी अपने-अपने स्तर, अपने-अपने साधनों से वहां पहुंच जाएंगे। 20-25 किलो राशन सहित और अपने साथ कुछ हजार दो हजार रुपये लेकर भी आएंगे।

जब से राज्य आया है पूरा का पूरा ठेका सरकार को दे दिया है। तब से ये प्रवृत्ति भी खत्म हो गयी है। 1978 में जब गढ़वाल में अलकनंदा की बाढ़ आयी थी तो नैनीताल समाचार में उसकी रिपोर्टिंग देखने लायक थी। हर 15 दिन के बाद नया साथी जाता था और वहां की नवीनतम रिपोर्टिंग लाता था। उसका दूसरा फीडबैक फिर दिनमान में देते थे क्योंकि 'दिनमान' के रघुवीर सहाय इस तरह के मुद्दों के लिए बड़े समर्पित थे। वात्स्यायन जी नवभारत टाइम्स के सम्पादक थे तो वहां तक खबर जाती थी। ऐसे सारे बरेली और मुरादाबाद के अखबारों का वर्चस्व नहीं था। अब स्थिति ये है कि इस बार खेत में लैंड स्लाइड आया। तवाघाट के ऊपर करीबन 10-12 लोग मारे गये, जहां जाने वालों में जिला मुख्यालय के वो पत्रकार भी नहीं थे जो जिलाधिकारी या एम. एल.ए. के साथ गांव जाने में बड़ा गौरव समझते थे, वो लोग इस मानवीय हितों के लिए जो कि पत्रकार की पहली प्राथमिकता होनी चाहिए, लेकिन वो नहीं गये।

ये इस बात का संकेत देता है कि मीडिया की हमारे यहां जो भूमिका होनी चाहिए, वैकल्पिक मीडिया जिस तरह से हमारे यहां प्रस्तुत होना चाहिए, वह हमारे यहां है नहीं। वैकल्पिक मीडिया की राष्ट्रीय स्तर पर भी जरूरत है। 'दिनमान' का कोई विकल्प नहीं बना। टाइम्स ऑफ इंडिया वालों ने सबसे पहले ज्ञानपीठ पुरस्कार शुरू किया, सबसे पहले ज्ञानोदय जैसी पत्रिका बंद की। दिनमान बंद की, फिर उसके बाद धर्मयुग बंद हुआ। आपके पास कोई पत्रिका नहीं हैं। आपके पास अब इंडिया टुडे, जिसका नाम हिन्दी में भी इंडिया टुडे है और आउट लुक भी हिन्दी में शायद उसी नाम से आ रहा है। हो सकता है इनमें से कुछ खोजी पत्रकारिता भी हो। अनेक बार

न भी हो, क्योंकि राष्ट्र के स्तर पर जब अखबार निकल रहे हैं तो आपके मुद्दे बहुत गौण हो जाते हैं। वैसे मुद्दे देश में बहुत सारे होंगे।

इसलिए आपको क्षेत्रीय स्तर पर एक अच्छे अखबार की जरूरत है, जिसके लिए बार-बार बात होती है कि किसी व्यक्ति को उस पर पहल करनी चाहिए। निकलने को देहरादून से 'दून दर्पण' हल्द्वानी से उत्तर उजाला निकाल रहे हैं। लेकिन इनमें नये राज्य के लिए, वहां की गड़बड़ राजनीति के लिए, वहां के उदास जन आंदोलनों के लिए जिस तरीके की पहल होनी चाहिए वह इनसे नहीं आ पा रही। मेरे ख्याल में वह आनी चाहिए।

मुझे ऐसा लगता है कि जो बहुराष्ट्रीय होंगे वो मीडिया में आएंगे। क्योंकि वो उनके लिए धंधा है, व्यवसाय है। कल खबर थी कि टाटा फिल्म बना रहे हैं। प्रेस में तो वह पहले से थे ही। फिलहाल जो हैं वो अच्छी खासी हिन्दी और अंग्रेजी में अखबार चलाते हैं। हम साढ़े तीन रुपये में अखबार खरीदते हैं, दिल्ली के अखबार दो रुपये में मिल जाते हैं। पन्ने भी बहुत होते हैं। रद्दी भी जब बेचते हैं तो उसकी मात्रा बहुत होती है। अब उसका एक कॉलम कट गया है फिर भी सप्ताह भर में कुल पेज बहुत हो जाते हैं। लेकिन आज भी हमारे यहां इंडियन एक्सप्रेस तथा हिन्दू को पढ़ने वाले लोग बहुत से लोग हैं। आज भी बहुत जगह पर स्टेट्समैन का इंतजार होता है। आज भी हमारे यहां जनसत्ता का इंतजार करने वाले लोग बचे हुए हैं। आज भी सहारा के हस्तक्षेप का बड़ा इंतजार होता है। लोग बड़ी केयर से उसको रखते हैं। उस अखबार को फेंकते नहीं हैं जैसे और अखबारों को फेंक देते हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि पाठक भी पूरा का पूरा रूपांतरित हो गया है।

अगर आप पाठक को विकल्प देंगे तो वह आपके साथ आएगा। जो सवाल उठे हैं उनमें से तीन बातें उठती हैं। एक तो यह कि जो भी सरकार होती है, जो भी सत्ता होती है, उसके अपने अच्छे और बुरे प्रसार माध्यम होते हैं। कभी-कभी अच्छे भी, जैसे इंग्लैंड में बी.बी.सी. राजा और रानी की बात नहीं मानता है। हालांकि सरकार से बहुत सघन रिश्तेदारी हैं, पैसा मिलता है। उसके बावजूद

उसने अपनी स्वायत्तता को बरकरार रखा है। हमारे यहां स्वायत्तता की कल्पना मंत्री से लेकर नीचे तक कोई कर ही नहीं पाता है। अगर स्वायत्तता हमारे यहां दे दें तो हमारे यहां भी कलात्मक लोग हैं जो उसको पूरे तरीके से आगे ला सकते हैं।

बहुराष्ट्रीय आएंगे उनका अपना मीडिया रहेगा, पूंजीपतियों के घराने अखबारों में छाये रहेंगे क्योंकि वो उनके लिए उद्योग वगैरह है। इसके साथ ही अगर हम इस जनतंत्र में वैकल्पिक मीडिया विकसित नहीं करेंगे तो वह सबसे ज्यादा दिक्कत पैदा करेगा। यहां वैकल्पिक मीडिया की बात अच्छे तरीके से उभरकर आयी। अगर उत्तरांचल पत्रिका निकल रही है तो मैं उसको वैकल्पिक मीडिया का भाग मानता हूं। वो उत्तरांचल की सरकार के खिलाफ अच्छा संपादकीय लिख सकते हैं। उसको छापने में भयभीत नहीं होते। विज्ञापन नहीं मिलेगा कोई बात नहीं। या उत्तराखण्ड प्रभात लिख सकता है या कोई और अखबार लिख सकता है। या कभी-कभी युगवाणी लिखेगा और कुछ अखबार लिखेंगे। उस स्वायत्तता के लिए जिस तरह की न्यूनतम बरकत चाहिए, वैकल्पिक मीडिया के लिए चाहिए, वो हमारे पत्रकार में या उनकी टीम में होनी चाहिए। मैं जब तुलना करता हूं कि हमारे छोटे-छोटे अखबारों से बड़ी-बड़ी चीजें निकली हैं। दिनेश जोशी आज अपनी प्रतिष्ठित, रंगीन पत्रिका से वह काम नहीं कर पा रहे हैं जो एक जमाने में पिथौरागढ़ से निकलने वाले एक छोटे से अखबार से करते थे। यानी कि एक वचनबद्ध पत्रकारिता थी जो बिल्कुल लोगों से छन के आती थी। अब आप बड़े हो गये, रंगीन हो गये, लेकिन उसका कोई असर नहीं है।

युगवाणी इतनी रंगीन होने के बाद भी वो असर नहीं कर पाती जैसा युगवाणी ने पिछले पचास साल के इतिहास में अपने मामूली आठ पन्ने के अखबारों से टिहरी को लेकर तहलका मचा दिया था। इसी तरीके की कर्मभूमि की बात है, और इसी तरीके से कुछ और अखबारों की बात है। मुझे जंगल के दावेदार याद आ रहे हैं, जिसके बहुत सारे अंक पी.सी. ने अल्मोड़े से संपादित किये। आज किसी के पास हों तो... वैसे संभालने की तो हम लोगों में से किसी को तमीज नहीं है। हो

सकता है बच्चे हों, लेकिन जैसी मेरी आशा है पूरी फाइल इनके पास भी नहीं होगी। लेकिन उस अखबार के भी आप संपादकीय पढ़ेंगे तो वो बहुत वस्तुपरक थी। आपने आपकी आलोचना करने की क्षमता थी। अगर यह अखबार में नहीं है तो वैकल्पिक मीडिया नहीं कह सकते। लेकिन वैकल्पिक मीडिया सिर्फ अखबार तक नहीं है। जो विजय भाई ने भी सहयोग दिया, इन्होंने भी किया। आपके घर में टेलीविजन घुसा हुआ है। सोलर ऊर्जा लग जाएगी तो उसका पहला उपयोग बच्चे के पढ़ने के लिए होगा कि नहीं होगा? लेकिन महाभारत से लेकर, किसी फिल्म से लेकर कुछ और के साथ चैनल आपके घर में घुस जाएगा। अगर विकल्प मौजूद हैं। बाहर गिल्ली-डंडा हो रहा है, कबड्डी हो रही है, रामलीला हो रही है, नाटक हो रहा है, स्लाइड शो हो रहा है, फिल्म क्लब बने हुए हैं। एक बात मुझे लगती है कि यदि नैनीताल के बच्चे टेलीविजन से बचे हुए हैं तो वो इसलिए कि वहां 365 दिन में से 300 दिन भी उस फील्ड में, फ्लैट्स में खेल होता है। उस खेल में बच्चे फिदा होते हैं और वहां आते हैं। इससे उनके उतने ही घंटे बच जाते हैं। हम शायद इस संस्कृति को अल्मोड़ा में विकसित नहीं कर पाये, चमोली में नहीं कर पाये हैं। पिथौरागढ़ में अभी फुटबाल की बहुत संस्कृति है जहां दस-दस हजार लोग फुटबाल को देखते हैं। तो यदि आप विकल्प देंगे तो चुपचाप जो हमारे बैठक के कमरे में या भगवान के कमरे में भी, एक कोने में भगवान जी हैं और दूसरे कोने में टेलीविजन है, जो उस अर्थ में पूरे का पूरे भगवान विरोधी है। उसे रोकने में आप कामियाब हो सकते हैं।

अगर शुरू में हम स्लाइड शो लाते हैं, अगर हम इस तरह की सी.डी. बनाते हैं शिक्षाप्रद, यहां तक कि हम बच्चों की फिल्म सोसायटी बनाते हैं। अगर आप टेलीविजन का सर्वे करें तो बच्चों के कितने कार्यक्रम आते हैं? पुरानी सांस्कृतिक फिल्मों में से जो हमें दिखानी चाहिए वो कितनी आती हैं? आप ऐसी फिल्म लाते हैं जिसके दस मिनट बाद आप विज्ञापन का कर लगा देंगे और पांच मिनट फदीदा मचेगा उसका फिर फिल्म शुरू हो जाएगी। बहुत लोग बंद भी कर देते हैं। अच्छे लोग टी.वी. नहीं भी देखते हैं। अगर आप बहुत घरों में जाएंगे तो वहां टी.वी. तक बंद रहने लगा

है। बहुत सारे लोग देखते भी नहीं हैं। तो वैकल्पिक मीडिया बहुत तरीके से फैला है, स्लाइड्स में फैला है सी.डी. में फैला है। वैकल्पिक फिल्मों में फैला हुआ है। नर्मदा पर एक फिल्म बनकर आयी थी, आप उन्हें जगह—जगह दिखाइए। आपको एक वैकल्पिक मीडिया मिलता है सच्चाई भी सामने आती है। तो वैकल्पिक मीडिया प्रिंट में भी और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में भी संभव है। सी.डी. के जरिये और वेबसाइट के जरिये जैसे गोविन्द ने बनाई है, उसके जरिये हम बहुत कार्यान्वयन कर सकते हैं।

अमरीका में एक रावत जी हैं वे बहुत सक्रिय हैं। वह डब्ल्यू.टी.ओ. विरोधी जुलूस में भी गये थे। उन्होंने उत्तराखण्ड की एक बहुत बढ़िया वेबसाइट बनायी है। जो भी नया आता है उसमें जोड़ देते हैं। संगीत आता है, खबर आती है, कुछ नया दस्तावेज आता है उसके भीतर डाल देते हैं और पूरी प्रवासियों के लिए वह रिफरेन्सिव चीज बनी हुई है। क्योंकि वहां कम्प्यूटर का जमाना है। ई—मेल का जमाना है। बिना कम्प्यूटर खोले, बिना ई—मेल खोले आपका काम नहीं चलता है। आपको रिजर्वेशन कराना है, गैस मंगानी है, रेलवे का टिकट मंगाना है, यान का टिकट लेना, सब कुछ है उसमें। तो इन सब में हमें फैलने की जरूरत है और दूसरा मेरा यह कहना है कि टेलीविजन की जितनी विविध धाराएं हैं, जो भी प्रतिभाशाली है — वहां भी इस चीज को उजागर करें। जैसे मैं राजीव से कहता हूं कि भई अमर उजाला में लिखना चाहिए क्योंकि उसके पाठक तो हमारे हैं। मालिक से तुम्हारी न बनती हो, संवाददाताओं से न बनती हो, पढ़ने वाले तो सब हमारे लोग हैं। अगर वहां कॉलम लिखोगे तो हमारे उतने हजार लोगों तक जाएगा। जहां तक नैनीताल समाचार नहीं जाता है। अगर नवभारत टाइम्स में लिखोगे, जनसत्ता में लिखोगे तो पढ़ने वाले तो वही हैं। वहां पर आप यह क्यों सोचते हैं कि इसका मालिक कौन है, इसका सम्पादक कौन है या इसका संवाददाता कौन है। अगर आपके लेख में दम है तो वह छपेगा, आप उसे बहुत काट नहीं पाएंगे। वहां छपेगा तो हमारे लोगों तक जाएगा। इसलिए इन अखबारों के

कॉलम्स का भी, टेलीविजनों के चैनल्स को भी जितना आपके हाथ आता है उतना आप जनहित में इस्तेमाल कीजिए। ऐसा बहुत बार किया गया है।

उन दिनों मैं धस्माना जी को नहीं जानता था। बहुत बार ये दूरदर्शन में ऐसी-ऐसी खबरें लाते थे कि हम चौंक जाते थे। एक बार हम अरुणांचल से आये तो इन्होंने एक जबरदस्त खबर लगायी। मैं नैनीताल वापस गया तो पता चला कि कल टेलीविजन में खबर आयी और वहां की 1898,1951 की बाढ़ की खबर दो या तीन मिनट की थी। तो अपने आप में यह बहुत बड़ी बात होती है। यदि कोई भी सकारात्मक आदमी किसी भी पद्धति या मल्टीनैशनल में चजा जाता है तो वह कुछ न कुछ कर सकता है। आज कल विकल्प भी बहुत हैं। सी.डी., डब्ल्यू. डब्ल्यू. डब्ल्यू., या वीडियो फिल्म के जरिए बहुत से काम किए जा सकते हैं। वो लोगों के बीच में जाये। तो नयी पीढ़ी को यदि हम-आप विकल्प देंगे, जैसे थियेटर कहीं विकसित हो रहा हो, जैसे रामलीला कहीं बची हुई हो और हमारी सांस्कृतिक गतिविधियां चल रही हों, तो आप उनका बहुत सारे समय को सदुपयोग में ले आते हैं। इसलिए वैकल्पिक मीडिया की पूरी गुंजाइश है।

सत्ता के मीडिया बने रहेंगे। बहुराष्ट्रीय के मीडिया उद्योग के रूप में आयेंगे लेकिन इनसे टक्कर लेने के लिए इलेक्ट्रॉनिक से लेकर यहां तक हमें अपना विकल्प बनाना होगा और उसमें बहुत गुंजाइश है।

तीसरी बात जो मैं कहना चाह रहा हूं कि फिल्म भी अपने-आप में एक बहुत बड़ा मीडिया है। ये ठीक है कि आपके यहां ऐसी फिल्में बनती रहेंगी जैसी मुम्बई से बन रही हैं। लेकिन आपके बहुत सारे लोग ऐसी फिल्में बना रहे हैं जो हमारे जीवन के साथ बड़ा ताल्लुक रखती हैं। जो आमतौर से मुम्बई में बनने वाली फिल्मों की तुलना में बहुत रोचक न लगती हों, जो पर्दे में नहीं होता, अनेक बार पर्दे में वो आप चाहते हैं। मोटोटॉनी है, हीनता है, कटे हुए हैं, प्रवास में हैं आप अपना मनोरंजन करते हैं। जैसे राही मासूम रजा कहते थे कि उन्हें जासूसी उपन्यास में बड़ा मजा आता

है। आम लोगों को भी लगता है ये बहुत सारे मानव मनोविज्ञान के विषय हैं। लेकिन अगर हम विकल्प लाएंगे तो उस विकल्प में बहुत सारी गुंजाईश बनती है।

आप यह भी देखिए कि टी.वी. के तमाम चैनल बेईमान क्यों न हों आज भी डिस्कवरी से, नेशनल जियोग्रेफिक से हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है। यह ठीक है कि उसके बीच में विज्ञापन फिट हैं। क्योंकि वह व्यवसायिक धंधा तो है ही लेकिन फिर भी उसमें बहुत सारी चीजें हैं। जिसको हमारे छोटे-छोटे बच्चे जानने लगे हैं और बहुत सारे बच्चे उसमें बहुत दिलचस्पी लेते हैं।

हम अपने देश में ऐसा कोई चैनल नहीं बना पाये हैं जो कि अधिक से अधिक लोगों के लिए उपयोगी हो। हमने आस्था नामक चैनल बना दिया अधिकतर बुजुर्ग लोग ही पसंद करते हैं। लेकिन एजूकेटिव चैनल बहुत उपयोगी हो सकते हैं। महिलाओं का एक पूरा चैनल आ सकता है। किशोरों के एक चैनल की पूरी गुंजाईश है। खेल के लिए एक पूरे चैनल की गुंजाईश है, जिसकी घोषणा भी हुई थी लेकिन वो कहीं दिखता नहीं है। जैसे खेल के बारे में मैं कहता हूँ कि क्रिकेट को, फुटबॉल को सीखने के लिए यह अपना टेलीविजन अद्भुत है। क्योंकि जो खेलने वाला है यदि उसको शिक्षित करना है तो वह पूरे के पूरे दृष्टिकोण समझ सकता है। क्योंकि टी.वी. के अलावा उसको आप उस तरीके से नहीं समझ सकते हैं। यह भी उस टेक्नोलॉजी के पक्ष में है। अब उसे आप कितना सकारात्मक और जनहितार्थ इस्तेमाल कर सकते हैं यह देखने की बात है।

दो और बातें आयी थी। एक यह थी कि आज भी कोई दमदार लिख रहा है तो उसका अर्थ है। चाहे वो पम्पलेट के रूप में ही क्यों न निकलता हो, चाहे वो मामूली अखबार के रूप में ही क्यों न निकलता हो, उसके आप रिप्रिन्ट करते हैं। मुझे याद है अनिल सद्गोपाल ने जब 'जन आंदोलनों में विज्ञान की भूमिका' लिखी थी, दिनमान ने पूरा विशेषांक निकाल दिया। उसके बाद देश भर में कोई ऐसा समूह नहीं था जिसने उसको रिप्रिन्ट न किया हो, क्योंकि सबको लगा कि हमें उसकी जरूरत है। हम लोगों ने शराब पर एक पुस्तिका निकाली। पन्द्रह साल निकल गये। आंकड़े पूरे

बदल गये। हम कहते हैं कि हमारे पास नये आंकड़े भी हैं उनको इस्तेमाल करो। आज भी वो समझते हैं कि वह पुस्तिका हमारे लिए प्रासंगिक हैं। शराब का कोई प्रश्न आएगा, 'नशा नहीं – रोजगार दो' के समय हमारे मित्रों ने मिलकर एक पुस्तिका बनायी थी 'नशा एक षड्यंत्र है'। वह आज भी हर जगह पूरी की पूरी कोट कर दी जाती है। एक ने हमारे यहां उत्तराखण्ड आंदोलन के समय जितने सम्पादकीय, जितने अग्रलेख लिखे गये उनका संकलन कोट द्वार से निकाला। आप देख सकते हैं, उसमें से बहुत सारे लेख बहुत दमदार हैं, बहुत आब्जेक्टिव हैं। उन्होंने बहुत आलोचनात्मक रूप से उत्तराखण्ड आंदोलन को देखने की कोशिश की है। तो ऐसे शब्दों की या ऐसी फिल्मों की महत्ता बनी रहेगी। मनु निश्चिन्त नाम के देहरादून में हमारे एक पत्रकार मित्र थे। जिनकी मृत्यु का हममें से किसी ने नोटिस ही नहीं लिया। उनके सम्पादकीय आप 'दून दर्पण' में देखिए, बहुत ही बेहतरीन लिखे हैं। कभी-कभी आपको लगता होगा कि दिल्ली के अखबारों में बहुत सारे अच्छे-अच्छे संपादकीय आते थे। वहां हमारी मित्र मंडली थी, आज बहुत सारे अखबारों में अच्छे-अच्छे लोग हैं। न केवल उत्तराखण्ड का मुद्दा, वो कहीं का भी मुद्दा हो, नर्मदा का मुद्दा हो, गुजरात का ही मुद्दा क्यों न हो, उन सबको उन्होंने आलोचनात्मक रूप से सामने रखने का प्रयास किया है।

अंत में मैं यह कहना चाहूंगा कि जो हम प्रवास में हैं, उनकी भी भूमिका है प्रवास की कुछ पत्रिकाओं ने जैसे दो पत्रिकाओं की तो चर्चा अभी हो गयी है। एक पत्रिका डांडी-कांठी करके बम्बई से निकल रही है, और बहुत अच्छी निकाली है। आप लोगों को आश्चर्य होगा कि हम लोग पिछले दो साल से टिहरी पर कोई विशेषांक नहीं निकाल रहे हैं और आज टिहरी खूब गयी है। 'कुछ मकान तो पता नहीं वह दिखेंगे कि नहीं दिखेंगे। बिजली बने न बने। वो इस फिराक में है कि पानी बढ़े तो लोग भागेंगे। लोगों की पराजय होगी उनका आंदोलन खत्म होगा। लोगों का पुनर्वास होगा कि नहीं होगा उनकी चिंता का विषय नहीं है। लेकिन टिहरी पर कुछ और लोग अंक निकाल रहे थे, नहीं हुआ। कोई डाक्यूमेंटरी बनाएंगे, नहीं था। वहां का आर्कीटेक्चर हम

डाक्यूमेंट करेंगे नहीं था। यहां रामतीर्थ रहे, यहां विवेकानन्द रहे, यहां फलाना रहे, यहां पर जन आंदोलन हुआ, यहां उस समय के हमारे क्रांतिकारियों के मृत शरीर आए। सकलानी और उसकी उस पुल से, जहां से राजा को नहीं आने दिया। वो डाक्यूमेंटेशन किया किसी ने, नहीं किया? नंदा जात में तो बहुत सारे लोग डाक्यूमेंटेशन के लिए पहुंचे, यहां नहीं पहुंचे। आज टिहरी डूबने के कगार पर है। तो डांडी-कांडी जो बम्बई के प्रवासी निकालते हैं, उन्होंने बहुत ही खूबसूरत अंक निकाला है। बल्कि पिछले संपादकीय में तो आश्चर्यचकित रहा कि किसी एक लेखक ने कुमाऊं और गढ़वाल की शब्दावली लिखी। इस बीच बहुत भाषा चल रही है। एक तो हमारी जातियों को लेकर देहरादून में बहुत शब्दावली चल रही है। दूसरा कुमाऊं और गढ़वाल पर बातें चल रही है। कुमाऊं और गढ़वाल की भाषा वहां के नेताओं में, विधान सभा में, ब्यूरोक्रेसी में सब जगह चल रही है। जो लोग वहां जाते हैं, दुखी होकर आते हैं। परसों नरेन्द्र नेगी से फोन पर बात हो रही थी, उन्होंने कहा एक जीप आयी तो वहां जो सेक्रेटेरिएट है, वहां कुमाऊं-गढ़वाल की शब्दावली हो गयी कि जीप कुमाऊं जानी चाहिए कि गढ़वाल जानी चाहिए। तो वह कह रहा था कि संयोग से हम दोनों सूचना अधिकारी घनिष्ठ मित्र थे। हमने आपस में तय कर लिया कि यार इस बार तू ले ले, मैं अगली बार ले लूंगा। लेकिन दफ्तर के लोग वही शब्दावली इस्तेमाल कर रहे थे।

कोई एक जीप आ रही है तो चर्चा यह हो रही है कि यह कुमाऊं जानी चाहिए या गढ़वाल में जानी चाहिए। यह नहीं है कि जहां जरूरत है, वहां जाये। यह नहीं है कि पिथौरागढ़ जैसे जिले में सूचना विभाग का अधिकारी धारचूला की तरफ तो जाता ही नहीं है। तो इस तरह की चीजें जो चल रही हैं इस तरीके की शब्दावली जो आ रही है इसके पत्रकारिता किस तरीके से तोड़ सकती है, ध्वस्त कर सकती है ये डांडी-कांडी-बम्बई वाले पत्रकार ने लिखा है। उसने वो कोट किया है जो किसी उत्तराखण्ड के पत्रकार ने लिखा था जिसमें यही सब घटिया किस्म की शब्दावली थी। मुद्दे नहीं थे, अब हम नारायण दत्त तिवारी को कुमाऊं का कैसे मानें, नित्यानन्द

स्वामी को हम गढ़वाल का कैसे मानें। मुख्यमंत्री तो अपनी पार्टी के हैं वो, लोगों के कहां है? भगत सिंह कोश्यारी को किस बात के लिए मानू मैं वहां का, उनका जन्म हुआ होगा। वो तो एक पार्टी को रिप्रजेन्ट कर रहे हैं। तो उस बम्बई के प्रवासी अखबार ने उसको इतना आलोचनात्मक रूप से दिया और उसने कहा कि यह जो उद्धरण है, यह हमारे उत्तराखण्ड के किसी प्रबुद्ध लेखक का है लेकिन वास्तविकता कुछ और है इस पर पूरे दो पन्ने का संपादकीय लिखा है, तो प्रवास की एक जोड़ने वाली भूमिका हो सकती है। सौभाग्य से प्रवास से कुछ अखबार निकल रहे हैं। वह पहाड़ में आते हैं। जो तोड़ने वाले हैं वो तो बहुत संगठित हैं। जोड़ने वाले बहुत कम हैं। लेकिन जोड़ने वाले हैं। यह बहुत महत्व की बात है। तो प्रवास की जो पत्रकारिता है वह भी अभी बहुत बड़ा काम कर सकती है। और विकल्प के रूप में जन आंदोलन तो हैं ही, जब जिस तरीके की जरूरत आएगी, समाज उस तरह से बोलेगा। हम सब चुप हो सकते हैं, पराजित हो सकते हैं, लेकिन हमारा समाज पराजित नहीं होगा। वह कल नये रूप में आएगा, नये तरीके से लड़ाई लड़ेगा और झक मारकर फिर हमको उनके पीछे जाना पड़ेगा।
